इतिहास दिवाकर

त्रैमासिक अनुसंधान पत्रिका

वर्ष ४ अंक १ चैत्र मास कलियुगाब्द ५११३ अप्रैल २०११

मार्गदर्शक :
डॉ० शिवाजी सिंह
चेतराम
इरविन खन्ना

सम्पादक :
डॉ० विद्या चन्द ठाकुर

सह सम्पादक
चेतराम गर्ग

सम्पादक मण्डल :
डॉ० रमेश शर्मा
डॉ०ओम प्रकाश शर्मा
प्रो० सतीश चन्द्र

टंकण एवं सज्जा :
अश्वनी कालिया

सम्पादकीय कार्यालय :
ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान,
नेरी, गांव—नेरी, डाकघर—खगल
जिला—हमीरपुर—१७७००१ (हि०प्र०)
दूरभाष : ०१९७२—२०३०४४

मूल्यः
प्रति अंक —१५.०० रुपये
वार्षिक — ६०.०० रुपये

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

नव संवत्सर

नव संवत्सर का वैज्ञानिक दिग्दर्शन	डॉ. ओम कुमार शर्मा	३
कुल्लू में नया संवत् की लोक परम्परा	मौलू राम ठाकुर	११

संवीक्षण

संस्कृति के संदर्भ में संस्कृत की अभियुक्तता	डॉ. रमाकान्त शर्मा आंगिरस	१९

आचार्य दर्शन

राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	२८

राष्ट्र विभूति

जन्मजात देशभक्त डॉ. हेडगेवार	चन्द्रशेखर परमानन्द मिंशीकर	३०

मातृ शक्ति

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई	वासुदेव शर्मा	३८

नाम विज्ञान

नामकरण की पौराणिक पद्धतियाँ	श्री राम शंकर भट्टाचार्य	४२

सम्पादकीय

नव संवत्सर और राष्ट्रीय स्वाभिमान

कलियुगाब्द *5112–13 तदनुसार ईस्वी सन् 2011–12 युग निर्माण योजना एवं गायत्री परिवार के संस्थापक, भारतीय संस्कृति के उन्नायक, वेदमूर्ति तपोनिष्ठ युग विभूति पं० श्रीराम शर्मा 'आचार्य' जी का जन्म शताब्दी वर्ष है। इस जन्म शताब्दी वर्ष में 'आचार्य दर्शन' स्तम्भ के अन्तर्गत पं० श्रीराम शर्मा 'आचार्य' के विशिष्ट लेख इतिहास दिवाकर के प्रत्येक अंक में सम्मिलित रहेंगे। इसी उपलक्ष्य से इस अंक में 'राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई' लेख सम्मिलित है। इसमें आचार्य जी ने स्पष्ट किया है कि* ***मानवीय चेतना विज्ञान के मर्मज्ञ ऋषियों ने राष्ट्रीय अवधारणा को कालजयी बनाने के लिए सांस्कृतिक आधारों को प्राथमिकता दी है।*** *राष्ट्रीय स्वाभिमान के पोषक सशक्त सांस्कृतिक आधार नव संवत्सर के परम पावन अवसर पर इस विषय का विचार करना अत्यन्त प्रासंगिक है।*

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा वर्ष आरम्भ की तिथि होने के कारण वर्ष प्रतिपदा कहलाती है। वर्ष प्रतिपदा के दिन नव संवत्सर का त्यौहार बड़े हर्षोल्लास के साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष में मनाने की परम्परा चली आ रही है। अब धीरे–धीरे पाश्चात्य संस्कृति के सुनियोजित प्रचार अभियान के अन्धानुकरण में 31 दिसम्बर की रात को ईसाई नव वर्ष के आगमन का शोर सब जगह सुनाई देता है और भारतवर्ष के प्राचीन परम्परागत सत्य सिद्धान्तपरक कालाधारित नव संवत्सर की श्रेष्ठ परम्परा विलुप्त होती जा रही है। इससे राष्ट्रीय स्वाभिमान को आहत करने में राष्ट्र विरोधी शक्तियों को बल प्राप्त हो रहा है तथा राष्ट्रीय अवधारणा दुर्बल हो रही है। अतः राष्ट्र रक्षक आधार तत्त्वों को परिपुष्ट करने के लिए राष्ट्रवादी शक्तियों को सजग हो कर सक्रिय होने की प्रबल आवश्यकता है। यदि सक्रियता में शिथिलता आई तो स्थिति कमलकोश में बन्द भौंरे जैसी हो सकती है जिसके बारे में कहा गया है कि सूर्य के अस्त होने से कमल पुष्प की पंखुड़ियां बन्द हो जाती हैं और कमलकोश में एक भौंरा भीतर ही रह जाता है। वह भौंरा सोचता है कि रात्रि समाप्त हो जाएगी, सुहावना प्रभातकाल आएगा। सूर्य उदय होने पर कमल खिल उठेगा तो वह बाहर निकल कर बहारों में विचरण करेगा। उतने में एक हाथी आता है जो कमल पुष्प को मुंह में डाल कर, उसे भौंरे के साथ निगल जाता है –

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार।।

इस दृष्टान्त के प्रकाश में भौंरे जैसी दीर्घसूत्री आत्ममुग्ध स्थिति को त्याग कर यथार्थवादी दृष्टिकोण से श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्यों को राष्ट्रमानस के व्यवहार में लाने के लिए सघन जीवन्त प्रयास करना अनिवार्य है। इसी से समृद्धि सम्पन्न राष्ट्रीय अवधारणाएं बलवती होंगी और राष्ट्रीय स्वाभिमान सदा दीप्तिमान रहेगा।

नव संवत्सर कलियुगाब्द 5113 की अनन्त शुभकामनाएं।

विनीत

डॉ. विद्या चन्द ठाकुर

नव संवत्सर का वैज्ञानिक दिग्दर्शन

डॉ. ओम कुमार शर्मा

मनुष्य विश्व में सर्वोच्च विचारशील प्राणी है। इस विचारशक्ति के कारण ही उसकी महानता प्राय: देवों से भी श्रेष्ठ सिद्ध होती है क्योंकि भारतीय वेदादि शास्त्रों में मनुष्य जन्म को देव जन्म से भी श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। मानव की यही श्रेष्ठता उसे अनन्त ज्ञान के अविष्कार के पुरोधा होने के कारण ही प्राप्त है। अपनी इसी विचार की श्रेष्ठता से ही वह विश्व में नित्य नवीन-नवीन रचनाओं को प्रस्तुत करने में सतत् कटिबद्ध बना हुआ है। नित नवीन-नवीन आविष्कार, व्यवस्थाएँ, सिद्धान्त, जीवन शैलियाँ, ये सभी मनुष्य की महानता का गुणगान प्रतिपल करते हुए संसार में सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

मनुष्य के द्वारा किए गए आविष्कारों व रचनाओं के माध्यम से ही विश्व मानवता अपने-अपने जीवन पथ का मार्ग चयन करती है तथा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही अपने सिद्धान्त, विषयों या आदर्शों का चयन करती है तदपि युक्तिपूर्ण मूल्याङ्कन को भी प्राथमिकता प्रदान करती हैं। क्योंकि रुचि-अरुचि का प्राय: मुख्य सम्बन्ध मनुष्य की भावनाओं, भावुकताओं या हृदय के साथ अधिक होता है, जबकि मनुष्य के वस्तुतत्त्व, यथार्थत्त्व, तत्त्वमीमांसा, तत्त्वज्ञान या तत्त्वदृष्टि का सम्बन्ध प्राय: उसकी बुद्धि के साथ अधिक होता है। यह उक्त सिद्धान्त मनुष्य जीवन के बाह्य पक्ष को समझाने के लिए एकमात्र मार्ग है। अत: मनुष्य के बाह्य जीवन के व्यवहार की सत्ता की प्रामाणिकता का अधिक सम्बन्ध तर्कपूर्ण बौद्धिक मूल्यांकन से था, है व रहेगा।

यही एक मात्र कसौटी सांसारिक लोक व्यवहारों, पदार्थों या वस्तुओं को समझने के लिए प्रयोग की जाती है। बौद्धिक ज्ञान की यही कसौटी जितनी मनुष्य के बाह्य जीवन की व्याख्या के लिए आवश्यक होती है, उतनी ही उसके आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन के लिए भी। विश्व के सभी दर्शनों के जनक स्वरूप सांख्यदर्शन में भी बुद्धि को एक वास्तविक सार्वभौमिक शाश्वत, वैज्ञानिक तत्त्व (महत् तत्त्व) के रूप में समस्त विश्व के विचारकों ने एकमत से स्वीकार किया है। वेदान्तों का भी यही उद्घोष है कि वह परमात्मा भी सूक्ष्मतम व अग्र कुशाग्र बुद्धि से ही जानने व साक्षात्कार करने योग्य है, तथा ज्ञान के बिना कभी भी मुक्ति सैकड़ों जन्मों में भी सम्भव नही हो सकती, इत्यादि वाक्य सब बुद्धि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भारतीय शास्त्रों में ही नहीं अपितु विश्व के सभी देशों के साहित्यों में भी बहुलता व प्रचुरता में देखे जा सकते हैं।

इस प्रस्तुत नव संवत्सर (नववर्ष) के सम्बन्ध में भी जब हम उक्त बौद्धिक मूल्याङ्कन की दृष्टि से विचार करते हैं तो अनेक प्रकार के नवीन-नवीन तथ्य व रहस्य प्रकट होते हैं। 'नववर्ष' शब्द पर विचार करने पर नवीन अर्थात् नया वर्ष अर्थात् साल या वत्सर यही शाब्दिक अर्थ प्रकट होता है। परन्तु साधारण दृष्टिकोण से देखने पर इसमें कोई स्पष्ट भेद दिखाई नहीं पड़ता है कि जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि केवल अमुक दिवस, मास या तिथि ही नववर्ष कहला सकती है तथा अमुक-अमुक तिथि आदि नहीं। क्योंकि संसार में प्रत्येक देश या राष्ट्र में दिन, वार या तिथियाँ ही कुछ विशेष-विशेष उत्सवों को मनाने के लिए निश्चित की गई होती हैं तथा उन सबका देश विशेष में प्राय: अभाव या बदलाव भी देखा जाता है। कभी-कभी एक ही देश के प्रान्त विशेष के कारण भी उनके उत्सवों की तिथियों व अवधारणाओं में भी पर्याप्त भेद देखने को मिलता है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमारा देश भारत भी है।

भारत के सभी प्रान्तों में प्राय: विभिन्न उत्सवों में पर्याप्त भेद व अभाव दोनों ही देखने को मिलते हैं। यही दशा अन्य देशों की भी दिखाई पड़ती है। परन्तु इन सभी विरोधाभासों तथा विपरीतताओं के मध्य भी कई स्थल व बिन्दु ऐसे हैं, जोकि प्रामाणिक आधारों तथा वैज्ञानिक पक्षों को भी प्रस्तुत करते हैं।

नववर्ष के सम्बन्ध में भी यह गहन तर्क समान रूप से घटित होता है। यद्यपि सामान्यदृष्टि से तो काल विशेष के भेद की महत्ता, आवश्यकता, प्रामाणिकता व वैज्ञानिकता को समझ पाना अति कठिन ही बना रहता है। तदपि शास्त्रों एवं विद्वानों की सम्मति के अनुसार ही इस सूक्ष्म कालविशेष भेदादि का जानना, समझना व मानना सम्भव ही नहीं, पूर्ण प्रमाणिक भी सिद्ध हो जाता है।

यह तथ्य विश्वविख्यात व सर्वत्र प्रसिद्ध है कि भारत के ऋषि मुनियों ने विश्व मानवता को काल ज्ञान की अमूल्य सम्पत्ति प्रदान की है जिसकी कीर्ति पताका विश्व में अनादि काल से लहराती चली आ रही है तथा सृष्टि के प्रलयकाल पर्यन्त फहराती ही रहेगी।

वस्तुत: नव संवत्सर के विषय में जितना गहन काल का स्वरूप, भारतीय वैदिक शास्त्रों में चिन्तित व विचारित किया गया है, उतना विश्व में अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, सरलता से असम्भव ही कहा जा सकता है।

इस लेख में हम भारतीय कालगणना तथा नव संवत्सर की वैज्ञानिक प्रामाणिकता के विषय में ही कतिपय प्रकाश डालेंगे, जिससे अप्रामाणिक 'नववर्षोत्सव' की जानकारी जिज्ञासुओं को हो पाए तथा प्रामाणिक 'नववर्ष' के आयोजन का सूत्रपात हो सके।

वर्तमान काल में प्राय: सम्पूर्ण विश्व में १ जनवरी को ही मानक, प्रामाणिक व वैज्ञानिक नव संवत्सर के मानदण्ड के रूप में मनाया जाता है, परन्तु इसकी गहन समीक्षा

करने पर १ जनवरी का पक्ष प्रामाणिक, वैज्ञानिक व तर्कसंगत सिद्ध नहीं होता।

भारतीय कालगणना के पक्ष को यदि देखा जाए तो साधारण बुद्धि से तो यह विश्वास ही नहीं हो पाता कि इतनी बड़ी काल गणना सम्भव हो सकती है। परन्तु ऋषि व देव प्रज्ञा के सम्मुख, मानवीय प्रज्ञा को नतमस्तक होना ही पड़ता है। भारतीय कालगणना का काल का स्वरूप इतने विस्तार से वेदादि शास्त्रों में प्राप्त होता है कि आश्चर्य से चकित हुए बिना नहीं रहा जा सकता।

भारतीय नव संवत्सर की गणना के मूल में वैदिक इडावत्सर, परिवत्सर, सम्वत्सर, अनुवत्सर तथा वत्सर– इन पञ्च सम्वत्सरों का ही वर्णन उपलब्ध होता है। तदनुसार ही सौरमास व चान्द्रमासों का भी क्रम उपलब्ध होता है। भारतीय काल गणना के मूल में भी अन्य सभी प्रकार की सृष्टियों के दार्शनिक, तात्त्विक आधार स्वरूप रजोगुण के अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा को ही स्वीकार किया जाता है तथा उसी ब्रह्मा से ही ब्रह्माण्ड चक्र का नियन्त्रण कालतत्त्व, कालशक्ति या क्रियाशक्ति करती है। यह पूर्ण वैज्ञानिक शास्त्रप्रमाण सिद्ध तथा सभी विश्व के विद्वानों (गणकों) द्वारा मान्य तथ्य भी है। आधुनिक विज्ञान यद्यपि इस प्राचीन काल विज्ञान का शोध ही कर रहा है तदपि उसने इसे प्रामाणिकता के रूप में भी स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया है।

कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी जन केवल यह कहकर ही भारतीय कालगणना का उपहास उड़ा देते हैं कि इतनी बड़ी काल की अवधि केवल कल्पना की वस्तु ही हो सकती है, न कि वास्तविक जगत् की। क्योंकि यह कालगणना केवल पुराणादि शास्त्रों में ही मिलती है और वे (पुराणादि) केवल मिथक (कल्पना) मात्र ही होते हैं न कि प्रामाणिक सत्य ग्रन्थ। ये सब कथन केवल दुराग्रह, पूर्वाग्रह, अल्पज्ञता तथा बौद्धिक दिवालिएपन के ही प्रतीक हो सकते हैं न कि विचारशीलता के। क्योंकि आधुनिक विज्ञान भारतीय कालगणना की प्रामाणिकता व वैज्ञानिकता को दिन प्रतिदिन स्वीकार करके उसकी पुष्टि ही करता जा रहा है।

भारतीय भौतिक बाह्य काल गणना में कल्प, मन्वन्तर, युग, वर्ष, अयन, ऋतु, पक्ष, तिथि, निमेष, लव, क्षण, काष्ठा, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात इत्यादि सभी विस्तार से कालगणना को स्वरूप प्रदान करते हैं।

कल्पादि की काल की सीमा का निर्धारण हम मानवीय दिन, पक्ष, मास व वर्ष की संख्याओं से ही करते हैं। तदनुसार वर्तमान में उक्त ब्रह्मा की आयु के पहले पचासवर्ष बीत चुके हैं और दूसरे पचास वर्षों का समय अभी बीतना शेष है। इस कालगणना का परिचय निम्नलिखित तालिका से सरलता से किया जा सकता है।

ब्रह्मा का एक दिन (अहोरात्र, दिन-रात)	:	८ अरब, ६४ करोड़ वर्ष
ब्रह्मा का एक वर्ष	:	३१ खरब, १० अरब, ४० करोड़ वर्ष

ब्रह्मा के सौ वर्ष	:	३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष

ब्रह्मा की उपरोक्त १०० वर्ष की आयु मनुष्यों के कालमान पर आधारित है। अपनी उक्त पूर्णायु के पश्चात् ब्रह्मा का प्रलय हो जाता है। यह लय भी पुन: शास्त्रों में विष्णु में तथा विष्णु का प्रलय रुद्र में स्वीकार किया है तथा ब्रह्मा के १०० वर्ष की आयु भी इसी कालगणना से विष्णु का एक दिन तथा विष्णु के १०० वर्ष की आयु रुद्र का एक दिन होता है। मुख्यत: कालगणना का विवेचन ब्रह्मा की आयु १०० वर्ष का किया गया है।

इसी कालक्रम के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन के काल में १४ मनु होते हैं अर्थात्:

ब्रह्मा का एक दिन	:	१४ मनु : लगभग ८ अरब, ६४ करोड़ मानुष वर्ष
१ मन्वन्तर	:	७१ चतुर्युग (३०,६७, २०,०००) १सतयुग की आयु का सन्धि काल (१७,२८,०००) ३० करोड़, ८४ लाख, ४८ हजार मानव वर्ष
१ चतुर्युग	:	४३ लाख, २० हजार मानव वर्ष
कलियुग	:	४, ३२, ००० मानव वर्ष
द्वापर	:	८, ६४, ००० मानव वर्ष
त्रेता	:	१२, ९६, ००० मानव वर्ष
सत्ययुग	:	१७, २८, ००० मानव वर्ष

ऐसे १०० चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन भी शास्त्रों में कहा गया है। इस गणना से ४ अरब, ३२ करोड़ मानवीय वर्ष सिद्ध होते हैं। इसमें कल्प तथा सृष्टि उत्पत्ति काल भी एक लघु कालखण्ड ही सिद्ध होता है। इसीलिए शास्त्रों में लाक्षणिक रूप से भी इस रहस्य को यह कहकर स्पष्ट किया गया है कि परमेश्वर या परमेश्वरी के पलकों के उन्मेष-निमेष में सैकड़ों हजारों सृष्टि व प्रलय उसी प्रकार से एक साथ उदय व अस्त होते हैं, जैसे समुद्र में बुलबुले।

इस कालगणना को भी केवल भौतिक या बाह्य ही स्वीकार किया गया है। वस्तुत: काल का कारण भी सङ्कल्प को ही शास्त्रों ने कहा है। यही कारण है कि भारतीय वैदिक परम्परा में काल की गणना का स्वरूप ब्रह्मा के मानसिक सङ्कल्प तथा संसार के सृष्टि व प्रलय की प्रवाहरूप (नदी प्रवाह की तरह) नित्यता के स्वरूप में ही स्वीकार किया जाता है। अर्थात् यह ब्रह्मा-विष्णु और रुद्र रूप से सृष्टि, स्थिति और संहार रूप से काल का प्रवाह निरन्तर गतिमान रहता है। वही लव-निमेष, क्षणादि उपाधियों के द्वारा कल्प, मन्वन्तर, महाप्रलयादि का ज्ञान करवाकर पुन: कालातीत रूप में, क्रमहीन में ही विलीन हो जाता है तथा क्योंकि क्रम का अक्रम में लीन होना दार्शनिक व वैज्ञानिक सिद्धान्त भी है।

कालगणना के इस उक्त विराट स्वरूप के दिग्दर्शन करवाने के पश्चात् सम्वत्सर सम्बन्धी कालमान का स्वरूप भी संक्षेप में यहां दर्शाना आवश्यक है ताकि वर्तमान काल में भटके हुए देशवासियों को अपने शास्त्रों की गौरवगाथा से परिचय प्रदान किया जा सके।

वर्तमान में विक्रमी संवत् व शकसंवत् ही भारतीय पञ्चाङ्गों में प्राय: प्रयुक्त किए हुए देखे जाते हैं। परन्तु इन सम्वतों की भी परम्परा उक्त ब्रह्मादि की परम्परा के समान ही अत्यन्त सुदीर्घकाल से प्रचलित होकर चली आ रही है। इस सुदीर्घ परम्परा में कई सम्वत्, पञ्चांग कालक्रम से लुप्त भी हो चुके हैं तदपि जो मूल काल का स्वरूप है, वह तो भारतीय ज्योतिषाचार्यों तथा पुराणाचार्यों ने अक्षुण्ण (विनाश रहित) ही बनाए रखा है। यही अत्यन्त सौभाग्य का विषय भी है, विशेषत: हम भारतवासियों के लिए।

वर्तमान में उपलब्ध सम्वतों का विवरण निम्न तालिका से ही स्पष्ट किया जाता है—

जय हिन्द संवत्	६५वाँ वर्ष
खालसा संवत्	३१३वाँ वर्ष
नानकशाही संवत्	५४३वाँ वर्ष
बंगाली संवत्	१४१८वाँ वर्ष
फसली संवत्	१४१९वाँ वर्ष
हिजरी संवत्	१४२३वाँ वर्ष
शक संवत्	१९३३वाँ वर्ष
ईसवी संवत्	२०११वाँ वर्ष
विक्रमी संवत्	२०६८वाँ वर्ष
महावीर संवत्	२५३७वाँ वर्ष
बुद्ध संवत्	२६३५वाँ वर्ष
सप्तर्षि संवत्	५०८८वाँ वर्ष
कलि संवत्	५११३वाँ वर्ष
श्रीकृष्ण संवत्	५२४७वाँ वर्ष

इस प्रकार यदि अधिक दूर न भी जाया जा सके तो भी उक्त सम्वतों के अनुसार भी ५१०० वर्ष पीछे का समय तो सिद्ध हो ही जाता है, जोकि बेबिलोनियन सभ्यता से भी १२०० ई. वर्ष पहले ही सिद्ध होता है। अत: बेबिलोनियन सभ्यता से १२०० वर्ष पहले भी भारतीय आर्य वैदिक सभ्यता की कालगणना तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी और उस काल गणना के आधार पर भी यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भारतीय 'नव वर्ष' की परम्परा ही विश्व में सर्वप्राचीन, सार्वभौमिक, सर्वप्रामाणिक व पूर्ण वैज्ञानिक है।

इसी के साथ यदि हम कुछ और पीछे की ओर भी जाएँ तो हमें निम्न कालखण्ड भी युगादि के रूप में इस प्रकार से मिलते हैं जैसे :

कलियुग की गत आयु (बीते वर्ष)	५११२ वर्ष
कलियुग के व्यतीत होने योग्य शेष वर्ष	४,२६,८८८ वर्ष
सृष्टि आरम्भ की गत आयु	१,९५,५८,८५,११२ वर्ष
कल्पादि की गत आयु	१,९७,२९,४९,११२ वर्ष
कल्प के व्यतीत होने योग्य वर्ष	२,३४,७०,५०,८८८ वर्ष

इस विषय में कल्पों की आवृत्ति को भी यदि दिखाया जाए तो इस समय श्वेतवाराह कल्प चल रहा है, जोकि ३२ कल्पों में से एक है तथा क्रोधी नामक सम्वत्सर चल रहा है, जोकि साठ चान्द्र सम्वत्सरों में से एक है। वैवस्वत नाम के मनु का मन्वन्तर तथा युगों में से अट्ठाईसवां कलियुग प्रचलित है। इस प्रकार से इतनी प्रामाणिक कालगणना विश्व के किसी भी राष्ट्र या सभ्यता के पास उपलब्ध नहीं होती है। अत: संक्षिप्त वर्णन का तात्पर्य यही है कि सर्वप्रथम हम भारतवासियों को अपने आचार्यों व वेदादि शास्त्रों के प्रति जाग्रत होकर उनका सटीक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जिससे हम अपने भारत की प्राचीन विशाल गौरवमयी सनातन वैदिक परम्परा को स्वयं भी आत्मसात् करें तथा विश्व को भी अपने महान वैज्ञानिक गौरव का परिचय प्रदान करें। आज यद्यपि विदेशी जिज्ञासु जन तो भारत के इन सनातन शास्त्रों के प्रति जिज्ञासा की दृष्टि से देख रहे हैं, तदपि हमारे अपने ही देश के तथाकथित दुराग्रहयुक्त बुद्धिवादी अभी भी इस तथ्य को अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण स्पष्ट रूप से ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। अत: ऐसे दुराग्रहवादियों के दृढ़प्रचार से ही आज की हमारे देश की वर्तमान व भावी पीढ़ी दिग्भ्रमित होती जा रही है।

अभी हमने केवल 'नववर्षोत्सव' का काल सम्बन्धी परिचय ही संक्षेप में इस लेख में प्रदान किया है, जबकि इसके अन्य सांस्कृतिक, धार्मिक, दैविक, राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि पक्षों को तो स्पर्श मात्र भी नहीं किया है। केवल इतना ही इस सम्बन्ध में यहाँ वक्तव्य है कि भारतीय 'नववर्षोत्सव' अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को स्वयं में संजोए हुए है। इसे भली प्रकार से मनाने पर ही विश्व में अधिक सुख-समृद्धि का राज्य स्थापित किया जा सकता है, न कि केवल अन्धानुकरण के मार्ग पर चलकर।

बिना सोच विचार किए किसी भी पदार्थ या सिद्धान्त का अनुसरण करना, मनुष्य को अज्ञान के गर्त में ही पहुंचा देता है तथा मनुष्य अपने ही साथ जगत् का भी अंत्यन्त अहित कर बैठता है। वर्तमान भारतवर्ष की त्रासदी, समस्याओं, क्षेत्रीयवाद, आतंङ्कवाद आदि की समस्याओं में भी यही उक्त विदेशी अवधारणा का ही अविचारित अन्धानुकरण ही मूल कारण है। क्योंकि न केवल कालगणना की महिमा के अनुसार,

अपितु उसकी सांस्कृतिक पद्धति के अनुसार भी नववर्षोत्सव मनाने से अनेक प्रकार के शुभ संस्कारों के बीज भी मनुष्य में बोए जाते हैं, जिससे वह दिव्य संस्कारों से भी ओतप्रोत होकर वास्तव में अपने अन्तर में नवीनता को उत्पन्न कर सके।

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से ही विश्व की आदिशक्ति की उपासना का भी शुभारम्भ होता है, जोकि नौ दिनों तक चलता है। इसका एक अन्य सर्वप्रबल प्रमाण अधिभौतिक रूप में यह भी प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा में ही वसन्त ऋतु भी अपने चरम पर पहुंचना प्रारम्भ करती है। इससे प्रकृति के प्रत्येक कण-कण में एक नवीन जीवनशक्ति का संचार स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है तथा नवजीवनारम्भ के प्रत्यक्षदर्शन प्रकृति में होते हैं। इससे अधिक स्थूल प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है? खगोल शास्त्रीय अथवा आकाशीय ग्रह, नक्षत्रपिण्डों के दृष्टिकोण से भी यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदा अपना पूर्ण वैज्ञानिक स्वरूप प्रकट करती है। क्योंकि इसी तिथि को चन्द्रमा शुक्ल पक्ष की प्रारम्भ तिथि में स्थित होता है, जिसे अन्य शब्दों में लोग नया चांद भी कहते हैं।

इसके साथ गणित शास्त्रीय तथ्य भी इस आकाशीय ग्रहों की स्थिति से जुड़ा हुआ है। क्योंकि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा की गति ज्यामिति कोण के अनुसार शून्य अंश में स्थित होती है। अर्थात् चन्द्रमा अपनी कक्षा में पूर्ण भ्रमण करके ३६० के वृत्त को पूरा करके पुन: नवीन वृत्त की पूर्ति के लिए भ्रमण आरम्भ करता है। इस प्रकार चैत्रशुक्लप्रतिपदा ज्यामिति, गणित तथा खगोल शास्त्र के अनुसार वैज्ञानिक तथ्यों से युक्त तिथि सिद्ध हो जाती है। इसी वैज्ञानिकता के लक्षण प्रकृति में भी वसन्त ऋतु के द्वारा स्पष्ट प्रकट होते हैं।

इसके विपरीत १ जनवरी को तो शिशिर ऋतु की ही प्रबलता विद्यमान होती है और प्रकृति में भी समस्त लक्षण, प्रलय, सुषुपित या मृत्यु के ही दिखाई देते हैं। इस समय नदियों का जल सूख जाता है। वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं। सर्वत्र प्राणियों के शरीर भी सिकुड़ जाते हैं। जीवन के प्रति पलायन के भाव ही सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। शीत, मृत्यु की ही दशा का भी प्रतीक होता है। साधारण बोलचाल की भाषा में भी यह प्रत्यक्ष ही कहते व सुनते हुए देखा जाता है कि अमुक व्यक्ति शान्त या ठण्डा हो गया। मृत्यु के समीप पहुंचे व्यक्ति का शरीर भी ठण्डा हो जाता है। शास्त्र भी कहता है कि मृत्यु दशा में शरीर का तेज परमात्मा में ही विलीन हो जाता है। क्योंकि ऊष्मा ही जीवन है। इसलिए प्राकृतिक सामान्य लक्षण भी नवर्षोत्सव के स्थान पर पूर्ववर्षान्त या पूर्व वर्ष समाप्ति या वर्ष के अवसान का ही प्रतीक सिद्ध होता है।

अत: प्रत्येक पक्ष से विचार करने पर भारतीय चैत्र शुक्ल प्रतिपदा जिसे वर्ष प्रतिपदा कहते हैं, ही वैज्ञानिक सांस्कृतिक, तर्कसंगत तथा वास्तविक सिद्ध होती है और सम्पूर्ण विश्व में यही दिवस एकमात्र नववर्ष के रूप में आयोजित किए जाने योग्य है।

जितनी विस्तृत वैज्ञानिक कालगणना भारतीय शास्त्रों में मिलती है, उतनी विश्व में कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकती है तथा न ही हो पाएगी भी।

भारतीय नव संवत्सर विज्ञान सूक्ष्म, अधिदैविक तथा आध्यात्मिक विज्ञान की सुदृढ़ आधारशिला पर सृष्टि के आदिकाल से चला आ रहा है। इसका आधार कोई व्यक्ति या घटना नहीं है, किन्तु काल से सम्बन्धित है जिसका अनुसरण चैत्र शुक्ल प्रतिपदा 'वर्षप्रतिपदा' के रूप में भारत के कालान्तर प्रचलित विक्रमी, शक आदि संवत्सरों में भी हुआ है। इसमें किसी नवीन परिर्वतन की आवश्यकता ही नहीं हो सकती। अत: संसार के सभी जिज्ञासु व बौद्धिक जनों को इस विश्वव्यापी उत्सव की आधारशिला तथा वैज्ञानिकता के विषय में निर्द्वन्द्व होकर निर्मल मन व बुद्धि से विचार करके, इसे हृदयंगम करना चाहिए।

प्राचार्य
श्री व्यास संस्कृत महाविद्यालय
रघुनाथपुर कुल्लू (हि.प्र.)

समाचार पत्र के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बंधित विवरण
फार्म –४ (नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन स्थल	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी
२. प्रकाशन तिथि	:	अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर, जनवरी माह का प्रथम सप्ताह
३. मुद्रक का नाम	:	चेतराम
क्या भारतीय नागरिक है?	:	हां
पता	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर–१७७००१ हिमाचल प्रदेश।
४. प्रकाशक का नाम	:	चेतराम
क्या भारतीय नागरिक है?	:	हां
पता	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर–१७७००१ हिमाचल प्रदेश।
५. सम्पादक का नाम	:	डॉ० विद्या चन्द ठाकुर
क्या भारतीय नागरिक है?	:	हां
पता	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर–१७७००१ हिमाचल प्रदेश।
६. उन व्यक्तियों के नाम व पत्ते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के सांझेदार या हिस्सेदार हों।	:	ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान हमीरपुर नेरी गांव नेरी, डाकघर खगल, जिला हमीरपुर–१७७००१ हिमाचल प्रदेश।

मैं चेतराम प्रकाशक एवं मुद्रक इतिहास दिवाकर एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकृत जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गए विवरण सत्य हैं।

हस्ता/–
चेतराम
प्रकाशक
दिनांक १ अप्रैल, २०११

कुल्लू में नया संवत् की लोक परम्परा

मौलू राम ठाकुर

कुल्लू में मनाए जाने वाले पर्व त्यौहारों में नया सम्वत् सर्वाधिक नामों से जाना और पहचाना जाता है तथा इसकी लोक परम्परा भी बड़ी विशिष्ट है —

नुआं समत

शाब्दिक रूप से 'नुआं समत' संस्कृत शब्द नव सम्वत्सर, नवीन सम्वत् या नया सम्वत् का तद्भव रूप है। विक्रमी सम्वत् के सौर मास के प्रविष्टों के आधार पर कुल्लू में कुछ स्थानों पर चैत्र मास की संक्रान्ति अर्थात् चैत्र की पहली प्रविष्टे को नए वर्ष के उपलक्ष्य में 'जेठा विरशु' नाम का त्यौहार मनाया जाता है और इसी प्रकार बैशाख संक्रान्ति को 'कोन्हा विरशु' होता है। यद्यपि विरशु शब्द का सम्बन्ध संस्कृत विषुव (वह समय जब दिन रात का मान बराबर होता है) या सं. 'वृषभ' (बैल) से जोड़ा जा सकता है परन्तु मूलत: यह 'वर्ष' शब्द की धारणा से अधिक मेल खाता है और इसीलिये इन दोनों महीनों अर्थात् चैत्र और बैशाख के प्रथम दिन के त्यौहारों की जेठा (सं. ज्येष्ठ) और कोन्हा (सं. कनिष्ठ) शब्दों से भिन्नता दर्शाई जाती है। जहां तक नुआं समत् का सम्बन्ध है, उस त्यौहार को चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन सम्पूर्ण कुल्लू जनपद में मनाने की समृद्ध परम्परा विद्यमान है। इस त्यौहार की तिथि चैत्र मास में १४ मार्च से १३ अप्रैल के बीच पड़ती है। भारतीय सनातन परम्परा में भी यही दिन नव संवत्सर का प्रथम दिन होता है। इसीलिये चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को वर्ष प्रतिपदा भी कहते हैं।

शुड़कु साज़ा

शुड़कु से तात्पर्य है चुपके से और साज़ा का अर्थ होता है — संक्रान्ति। नया सम्वत् जो शुड़कु साजा अर्थात् चुपके से मनाई जाने वाली संक्रान्ति का त्यौहार भी कहते हैं। इसे शान्त वातावरण तथा शान्तिप्रिय स्वभाव और परिस्थितियों में मनाए जाने की प्रथा है। यद्यपि सूर, चाकटी, शराब आदि मद्य पेय यहां के त्यौहारों और मेलों का अभिन्न अंग हैं परन्तु नया सम्वत् को शराब आदि का सेवन नहीं होता। लोक विश्वास है कि नया सम्वत् को जिस स्थिति में मनाया जाए सारा वर्ष वही परिस्थितियां रहती हैं। इसलिए उस दिन किसी तरह की लड़ाई-झगड़ा तथा गाली-गलौच से दूर रहने के प्रयत्न किये जाते हैं। नुआं संवत् को दिन का आरम्भ मीठा खाने से नियोजित करते हैं। सुबह-सवेरे बिस्तर से उठने से पूर्व ही, जब अभी 'पंछी'(कौवे आदि) भी न बोल उठे, मीठा खाते हैं। यह सुनिश्चित करने

के लिए हर परिवार का सदस्य अपने सिरहाने में गुड़ की डली रखता है। घर की गृहिणी छोटे बच्चों के सिरहाने स्वयं गुड़ रखती है। हर एक किसी को बताए बिना प्रातः चुपके से रखा हुआ गुड़ खा लेता है। गृहस्वामिनी प्रत्येक बच्चे के बिस्तर पर जाकर निश्चित कर लेती है कि उसने गुड़ खा लिया है। किसी ने न खाया हो तो उसके मुंह में गुड़ डाल देती है चाहे वह पुनः सो जाए।

लेहुरा साज़ा

गृहस्वामिनी फिर उठकर सबसे पहले चूल्हा चौका देकर गेहूं के आटे और गुड़ का पतला घोल तैयार करती है। तब उसे कड़ाही में डालकर हलकी आग पर पकाती है। पकाने पर वह गाढ़ा मीठा लेप बन जाता है। इसे 'लेहुरा' कहते हैं। इसी के आधार पर इसे 'लेहुरा साज़ा' भी कहते हैं। स्वाद के लिए कभी-कभी इसमें घी भी डाल देते हैं। अनेक स्थानों पर गुड़ के पानी में आटा नहीं मिलाया जाता। तब इसे लेहुरा नहीं अपितु गड़ाणी कहते हैं।

चिलड़ा साज़ा

एक अलग बर्तन में ऐसा ही एक और घोल तैयार किया जाता है, परन्तु उसमें गुड़ नहीं डाला जाता। वह फीका होता है। चूल्हे पर तवा चढ़ाकर उसके ऊपर इस पतले आटे के घोल को फैला दिया जाता है और उसे पकने दिया जाता है। पकने पर उसकी पतली नर्म रोटी बनती है। इसे चिलड़ा कहते हैं और इस आधार पर इसे चिलड़ा साज़ा भी कहा जाता है। घर के सदस्य सभी मिलकर चिलड़ा और लेहुरा के भोजन का आनन्द लेते हैं। दिन के समय नाता-रिश्ता और पड़ोस के लोग एक दूसरे के घर जाकर चिलड़ा-लेहुरा खाकर खुशियां मनाते हैं। प्रत्येक घर का स्वामी लोहार और पुंबा (ऊन पिंजाई करने वाला) को चार-चार चिलड़े और लेहुरा बांटना नहीं भूलता, ताकि वर्ष भर उनका सौहार्द सम्बन्ध बना रहे।

गुडला साज़ा

नया संवत् के दिन केवल मीठा ही पकाया और खाया जाता है। प्रातः गुड़ का सेवन, दिन को लेहुरा या गड़ाणी और चिलड़ा का भोजन तो हर घर में बनता है। कई जगह खीर भी बनती है। दिन भर मेहमानों को भी यही भोजन खिलाया जाता है और गुड़ बांटा जाता है। इसलिए 'गुडला साज़ा' भी नया सम्वत् का प्रमुख नाम है।

लिंगड़ साज़ा

उन्हीं दिनों ताज़ा-ताज़ा एक जंगली पौधा उगता है। भूमि के निकट नीचे तो यह सीधा डंठल होता है परन्तु सिरे पर इसके जलेबी के आकार सा कुंडलीदार गुच्छा होता है। इसे लिंगड़ी या लिंगुड़ कहते हैं। यह स्वादिष्ट सब्जी होती है। इसके अतिरिक्त इसका बढ़िया आचार बनता है। पुराने समय में नया सम्वत् के दिन इसकी वर्ष में पहली सब्जी अवश्य बनाई और खाई जाती थी। इसके बाहर बाल होते हैं। बालों को हाथों से उतारकर

इसे साफ किया जाता है। अन्यथा इसके खाने से किंचित् जहरीला प्रभाव होता है। नया सम्वत् के दिन इसका सेवन पारम्परिक था, चाहे थोड़ी-सी ही सब्जी बनाई जाए इसीलिये इसे लिंगड़साजा भी कहते हें। आज कल इसका उस दिन उपयोग कम ही देखने में आता है, हालांकि लिंगड़ी की सब्जी का गांवों में आज भी बहुत प्रयोग है।

वर्ष फल

प्रात: का भोजन करने के बाद प्रत्येक परिवार कुल ब्राह्मण की बड़ी उत्सुकता और बेसब्री से प्रतीक्षा करता है। वह उस दिन घर-घर भ्रमण करता है। उसके घर पर पहुंचते ही घर का स्वामी सबसे पहले उसे एक टोकरी 'हाछा' और एक टोकरा 'बौगड़ा' अन्न का भेंट करता है। 'हाछा' अन्न में गंदम (गेहूं) माष और चावल तथा 'बौगड़ा' में जौ, मकई और कोदा अन्न शामिल होते हैं।

ब्राह्मण अपने साथ दो वस्तुएं अवश्य लाता है – एक नव वर्ष का पंचांग (जंतरी) और दूसरी पत्री। पत्री स्थानीय भाषा का नाम है। ब्राह्मण लोग उसे 'शिरा' कहते हैं। यह नव वर्ष फल का सारांश होता है। यह ग्राम ब्राह्मण द्वारा तैयार नहीं होता। इसे उच्च कोटि का ज्योतिष आचार्य ही तैयार करता है। किसी समय ढालपुर-कुल्लू के हेमीदत्त पुरोहित इसके निपुण शास्त्री थे। वह दो-दो आने प्रति शिरा या पत्री बेचा करते थे। इसमें नए वर्ष का सारा विवरण होता है। नव वर्ष का नाम क्या है? उसका राजा कौन है? वजीर या मंत्री कौन है? वर्ष भर जल पानी कैसा रहेगा? अन्न फसल के शत्रु जीव जन्तुओं की क्या स्थिति होगी। पशु पक्षियों के लिए वर्ष कैसा होगा। रोग-व्याधि तो नहीं रहेगी। चोरी, ठगी तस्करी, लूटमार की घटनाएं तो नहीं होंगी, यदि होंगी तो अधिक या कम। आम लोगों की हालत कैसी रहेगी। क्या शांति रहेगी या अशांति। उसमें अन्न वस्तुओं के मूल्यों का भी उल्लेख होता है और महंगाई का वर्णन भी रहता है। वस्तुत: पत्री में वह सब कुछ उल्लिखित होता है जिसका सीधा सम्बन्ध जन-सामान्य से रहता है। राजदरबार या राज सरकार में कलह–क्लेश और शासकीय वर्ग में टकराव या सम्बन्ध का भी वर्णन होता है।

लोग यह सब कुछ जानने के बड़े इच्छुक होते हैं। घर में पधारने पर ब्राह्मण को किसी आसन-चटाई पर बिठाया जाता है और वह सबको पत्री सुनने के लिए आमंत्रित करता है। उस द्वारा पत्री खोलते ही घर का स्वामी पत्र पर गुड़ का ढेला और कुछ पैसे रखता है और ब्राह्मण पत्री पढ़ना आरम्भ करता है। वर्ष के नाम से ही लोग वर्ष के अच्छे या बुरे होने का अंदाजा लगाते हैं। यहां उन्हें ज्योतिष की भविष्यवाणी की अपेक्षा अपनी सूझ पर अधिक विश्वास होता है। यदि नाम सरल और सादा हो तो वे वर्ष को अच्छा समझते हैं। यदि नाम जटिल हो तो वर्ष में जटिलता से भरपूर होने का भय मानते हैं। वर्ष २००५ का नाम 'खर' था। कुलुई में 'खरा' अच्छे को कहते हैं और लोगों की प्रतिक्रिया थी 'वर्ष खर सा ता खराए लोड़ी। बुरा कीबै' (वर्ष अच्छा ही होना चाहिए। बुरा क्यों हो)। एक वर्ष जब

ब्राह्मण ने अपनी शैली में पढ़ा कि इस वर्ष का नाम 'मन्मथ नामे संवत्सरो' तो लोगों ने तुरन्त कहा 'मुंड-मथे ता मारने रज' अर्थात् इस वर्ष सिर-माथे तो खूब फटेंगे। इसी तरह वर्ष का मंत्री कौन है और कैसा रहेगा यह भी उनकी अपनी पहचान है। वृहस्पति है तो शुभ, शनि है तो अशुभ। यदि घर का स्वामी पोषक माली है तो वह साल फसल, फल-पौधों के लिए लाभदायक है। यदि धोबी है तो वर्ष किसानों को पटक-पटक कर मारेगा जैसे धोबी कपड़ों को पटकता है। वस्तुत: वर्षारम्भ की यह मंगलदायिनी तिथि सारे वर्ष के सुख-दुख की प्रतीक मानी जाती है। यह जिस दिन होगी वही ग्रह वर्ष का राजा होगा। अर्थात् यदि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा शुक्रवार को होगी तो उस वर्ष का राजा भी शुक्र ही होगा। प्रतिपदा यदि अनिष्ट दिन को होगी तो वह वर्ष सुख सौभाग्य के लिए इष्टप्रद न होगा। परन्तु चाहे वह शुभ दिन होगा या अशुभ, लोग नया संवत् को परम पवित्र मान कर उसे बड़ी श्रद्धा से मनाते हैं।

शिरा में निरक्षर ग्रामीण को ये सभी बातें बड़े सरल उपाय से बताई जाती हैं। वहां हर बात 'बिस्वा' या विश्वा में दिखाई होती है, जैसे वृष्टि (वर्षा-बाढ़) १५ बिस्वा, अनावृष्टि (सूखा) ५ बिस्वा, शांति ७ बिस्वा, उपद्रव १३ बिस्वा, मूषक १० बिस्वा, अग्नि शांत ११ बिस्वा, शल्ह (शलभ-टिड्डी) ९ बिस्वा, मूषक १० बिस्वा, निद्रा १३ बिस्वा, क्रोध १२ बिस्वा, धान्य (अन्न-फसल) १४ बिस्वा, सर्प ८ बिस्वा, ऐहण (ओला वृष्टि) ६ बिस्वा, रोग व्याधि ९ बिस्वा आदि। यहां बिस्वा या विश्वा का अर्थ बीस में से है। अर्थात् यदि वर्ष में मूषक-चूहों का अधिकतम प्रकोप बीस हो सकता है तो वर्ष में विशेष दस बिस्वा मूषक का अर्थ है उनका मध्यम प्रकार का प्रकोप। दस से जितने अधिक अंक होंगे उतना अधिक प्रकोप होगा और जितने कम अंक होंगे उतना ही उनका प्रभाव कम होगा। यदि वर्ष में १६ बिस्वा अग्निकांड दिखाया गया है तो यह भय है कि उस वर्ष अग्नि की घटनाएं बहुत अधिक होंगी। यदि चार बिस्वा अग्नि हो तो अग्नि से भय बहुत कम होगा।

लोग सबसे अधिक अपने ग्रहों के बारे में जानने के उत्सुक होते हैं और यही अवसर है जब उन्हें यह सुविधा सुलभ होती है। शिरा में वर्ष भर के राशि फलों को बड़े सरल ढंग से समझाया होता है। मेष, वृष, मिथुन, कर्क आदि सभी राशियों की वर्ष भर की शुभाशुभ स्थितियों को पत्री में लेने-देने की मात्रा से दर्शाया होता है, कम से कम ब्राह्मण लेने-देने से ही लाभ-हानि सुनाता है, जैसे सिंह राशि ९ लेने ११ देने, कन्या राशि २ लेने ५ देने, तुला राशि १२ लेने ७ देने, कुम्भ राशि १४ लेने २ देने आदि। मूल रूप में यहां 'लेने' का अर्थ 'आय' और 'देने' का अर्थ व्यय है, अर्थात् यदि लेने अधिक हों तो आय अधिक होगी और व्यय कम। परन्तु गांव में आय के साधन क्या हैं ? कुछ भी तो नहीं। इसलिये गांव के लोग इसका अर्थ 'ग्रहों' से ही लेते हैं। उनका मानना है कि यदि लेने अधिक हों तो समझो उनके लिये वर्ष भर ग्रहों की बुरी दशा अधिक रहेगी। इस तरह लोक विश्वास कभी-कभी ज्योतिष-अनुमान के भिन्न रहता है। ज्योतिषाचार्यों ने उक्त सभी प्रकार के अंक गहन गणितीय गणना के आधार पर निश्चित किये होते हैं और लोग राशिफल का

ध्यानपूर्वक श्रवण करते हैं।

पत्री सुनने के बाद प्रत्येक परिवार का स्वामी घर के सभी सदस्यों के ग्रह-चक्रों के बारे में पूछता है। तब ब्राह्मण शिरा को किनारे रखकर वर्ष के पंचांग की सहायता से सब की ग्रह दशा देखते हैं और कष्टों और समस्याओं के निवारण का उपाय भी बताते हैं।

माहूं री भरण

नया संवत् की एक और विशिष्ट परम्परा 'माहूं री भरण' अर्थात् मधुमक्खी पालन से है। कुल्लू भर में मधुमक्खी पालने का प्राचीन काल से एक विशिष्ट व्यवसाय है। मूल में तो लोग खेती बाड़ी का काम करते हैं, परन्तु अपने प्रयोग अथवा अपनी आय बढ़ाने के लिये मधुमक्खी पालने का काम भी करते हैं। इसके प्रयोजन से प्रत्येक मकान में (आज कल के मकानों को छोड़कर) तीन-चार मढ़ाम जरूर होते हैं। मढ़ाम लकड़ी की बनी मधुमक्खी पेटिका होती है जिसे घरों की दीवारों में चिन दिया जाता है। बाहर की ओर से ढक्कन में मधुमक्खियों के आने-जाने के लिए छेद होता है और अन्दर की ओर का ढक्कन अस्थाई रूप से मिट्टी गोबर द्वारा चिपकाया जाता है ताकि शहद का छत्ता सुरक्षित रहे और जब शहद निकालना हो तो उसे आसानी से खोला जा सके। यह जरूरी नहीं कि सभी मढ़ाम हर समय मधुमक्खियों से भरे हों। अनेक खाली भी रहते हैं।

नया संवत् के तुरन्त बाद वैशाख-जेठ महीने मधुमक्खियों के विभाजन के दिन होते हैं। तब तक प्राय: छत्ते में नई मधुमक्खी रानी ने जन्म लिया होता है और उसकी टोली की मधुमक्खियां नए मढ़ाम की तलाश में फिरती हैं। इसी समय अनेक बार मधुमक्खियां पुराने मढ़ाम भी छोड़ देती हैं। इस उद्देश्य से कि उसके मकान के मढ़ाम से शहद की मक्खियां भाग न जायें और विभाजन के बाद नया छत्ता उस खाली मढ़ाम में आ जाए। प्रत्येक घर का स्वामी ब्राह्मण से पूछता है कि उसके परिवार के किस सदस्य के पास 'माहूं री भरण' है। ब्राह्मण मधुमक्खियों के साथ घर के सदस्यों की राशि मिलाता है और उसका नाम बताकर 'माहूं री भरण' का दिन निश्चित करता है। उन्हीं दिनों खेतों में सरसों फूली होती है। निश्चित दिन को वह निर्धारित सदस्य खेतों से डंठल के साथ सरसों के फूल लाता है और डंठल में गोबर मिलाकर मढ़ाम में फूलों को चस्पां कर देता है तथा कामना करता है कि उसके मढ़ाम शहद की मक्खियों से भरपूर रहें। जब कभी शहद की मक्खियां विभाजन करने लग जाएं या भागता हुआ छत्ता उसके घर के पास से उड़ने लगे तो वह और अन्य सदस्य कोई टीन का पात्र आदि बजाते हैं, उड़ते हुए छत्ते पर पानी या मिट्टी की बौछार करते हैं और कहते हैं :

बेश माहूं बेश, आगे जाआ सी ता माहूं रानी री द्रोही हौआ सा।

तभी शहद की मक्खियां खाली मढ़ामों में या आस-पास के वृक्ष की टहनियों पर बैठ जाती हैं जहां से वह उन्हें सम्भाल कर ले आता है और मढ़ाम में रखता है। टीन या लकड़ी आदि

के पात्र बजाकर मधुमक्खियों को बिठाने की परम्परा अंग्रेजों के देश में भी है। (देखें एच.ए. रोज़ की पुस्तक 'ए गलॉसरी ऑफ द ट्राइब्ज़ एण्ड कस्टम आफ द पंजाब एंड नार्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रोविन्स, पृ. १४२')

बीजारोपण

नया सम्वत् के दिन ही ब्राह्मण वर्ष की दोनों फसलों के लिए पहली बार बीज बोने हेतु दिन निश्चित करता है – शौयर (खरीफ) और नियाह (रबी फसल) के लिये अलग-अलग दिन निर्धारित करता है। यदि उस दिन तक खेत फसल बोने हेतु तैयार न भी हुए हों तो भी किसान आस-पास के खेत में पहली बार बीज बो देता है। उसी समय ब्राह्मण 'रूहणी' अर्थात् धान रोपने का दिन निर्धारित करता है। निश्चित दिन को लोग धान का बीज बोते हैं। जब पौधे बड़े होते हैं तो उन्हें उखाड़ कर बड़े खेतों (जिन्हें रोपा कहते हैं) में रोपते हैं।

बरशोहा

नया संवत् लोगों के लिये कुल देवता और ग्राम देवता की पूजा का विशिष्ट दिन होता है। उनसे नूतन वर्ष की आनन्दपूर्वक समाप्ति की कामना की जाती है। गांव-गांव में मेले लगते हैं। इन लौकिक विधानों की परम्परा शास्त्रीय विधि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। लोक विश्वास और देवताओं के व्याख्यानों के अनुसार पौष में सभी देवता इहलोक छोड़कर स्वर्ग लोक जाते हैं। वहां उनके वार्षिक सम्मेलन होते हैं और अन्त में उनके बीच नव वर्ष के सुख और दुख, शांति-अशांति, समृद्धि-न्यूनता, सम्पन्नता और दुर्दशा बांटी जाती है। इस वितरण का विस्तृत विवरण प्रत्येक देवता स्वर्ग लोक की देव सभा से लौटने के तुरन्त बाद होने वाले फागली मेले में देता है। जो देवता फागली में ऐसा विवरण नहीं देते वे सभी नया संवत् के दिन 'बरशोहा' में इनका ब्यौरा देते हैं। बरशोहा वास्तव में वर्ष भर में होने वाली घटनाओं का विस्तृत विवरण होता है। मेले के अवसर पर विशेष अनुष्ठान में देवता की आत्मा उसके मलेघे-गूर (मुख्य चेला) में प्रवेश करती है और तब वह देवते का आत्म वृत्तान्त सुनाने के बाद बताता है कि देवता विशेष इस वर्ष की बांट में क्या लाया है – अधिक या कम वर्षा, अच्छी या बुरी फसल, खुशहाली या रोग-व्याधि, अन्न-फसल के हानिकारक जीव जन्तु चूहे, सर्प, कीट पतंग या लाभदायक पशु-पक्षी, सूखा या बाढ़ आदि। ये वही बातें होती हैं जो ब्राह्मण लिखित शिरा पढ़ कर सुनाता है, परन्तु देवता का गूर यह सब कुछ जबानी बताता है जैसे देवता की आत्मा का संकेत हो। लोग दोनों की भविष्यवाणियों का मिलान करते हैं। जहां एक जैसे विवरण हों वहां उनकी पुष्टि होती है। जहां मतभेद हो वहां जिज्ञासा रहती है कि किसका ठीक होगा।

ऐसी ही बरशोहा देवता गिल्हडू थान लिंघड़ (लिंगड़) जाच (सं. यात्रा) में सुनाता है। गिल्हडू थान कुल्लू की लग घाटी में गांव क्षेड़, भूठी और नड़ाधी का देवता है। उस दिन वह पहले अपने भूठी स्थित मंदिर से निकल कर गांव की परिक्रमा करता है। फसलों की

देवी 'ओड़ी' से मिलता है और फिर नड़ाधी में स्थित अपने डेहरे के पास मेला लगाता है। यहीं वह पिंडी रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। जब कभी वह फसलों के खराब होने का संकेत देता है तो उसे भेड़-बकरे की बलि दी जाती है जिससे प्रसन्न होकर वह अच्छी फसल प्रदान करने का आश्वासन देता है।

नया सम्वत् के दिन सोमसी (वर्तमान नाम शमशी) में देवी सोमसी के मंदिर में बिरशू का मेला लगता है। इस मेले की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें केवल महिलाएं ही नृत्य करती हैं। पुरुषों के नाचने की प्रथा नहीं है। हालांकि कुल्लू के मेलों में पुरुषों के नाच ही प्रमुख हैं। इसी तरह रूपी क्षेत्र के अनेक गांवों में भी उस दिन से आरम्भ हुए मेलों में प्राय: स्त्रियां ही नाचती हैं। नया सम्वत् के दिन कुलुई नारी का इस प्रकार का हर्षोल्लास भारतीय भावधारा के प्रतिकूल नहीं है वरन् उसके पूर्ण अनुरूप है, क्योंकि भारत के शिष्ट समाज में भी नया सम्वत् के दिन स्त्रियां नवरात्र की उस प्रतिपदा को व्रत रखती हैं और आदि-शक्ति दुर्गा देवी की पूजा का अनुष्ठान आरम्भ करती हैं। दुर्गा के पीठ स्थलों में उस दिन से ही नवरात्र पूजा का आरम्भ होता है और मेले चल पड़ते हैं। सोमसी आदि देवियों के मंदिर में स्त्रियों का नृत्य गायन उसी परम्परा का अनुकूलन है। शिष्ट समाज शास्त्रीय विधि से पूजा-पाठ करके जो मनोकामना और अनुभूति प्राप्त करता है वह जनसाधारण नाच गाने से ग्रहण करता है।

भीतरी सिराज के कोटला गांव में नया सम्वत् के दिन देवता छमाहूं का एक बड़ा मेला लगता है जिसे 'देऊ ओसणी' का मेला कहते हैं। 'ओसणी' शब्द ओसणा क्रिया से संज्ञापद है। ओसणा का अर्थ 'उतरना' है और यह मेला उस पारम्परिक विश्वास और अनुष्ठान का स्पष्ट उदाहरण है जिसका पीछे उल्लेख किया गया है। पौष संक्रान्ति के दिन देवता छमाऊं को उसके कोटला मंदिर में नरोला जाता है। यदि देवता छमाऊं देऊली पर कहीं बाहर गया हो तो भी उसे पौष संक्रान्ति को अवश्य अपने मंदिर कोटला में पहुंचना होता है। उसके बाद नया सम्वत् तक देवता नरोल़ (अन्दरोल, देवता के रथ को कपड़े से ढक देना या देवता को देव कक्ष में बंद करना। नरोल़ की अवधि में दर्शनार्थी देव-दर्शन नहीं कर सकते) में रहता है, बाहर नहीं निकलता। देवता छमाऊं के रथ में एक मोहरा धाराखरी गांव की तोतला देवी पर लगा होता है। उस मोहरे को भी पौष-संक्रान्ति के दूसरे दिन देवी के पास ले जाकर वहीं छोड़ देते हैं। तब रथ को मंदिर में छोड़कर देवता छमाऊं अन्य देवी-देवताओं के साथ देवलोक को चला जाता है।

नया सम्वत् को देवता देवलोक से उतर आता है और ओसणी मेले का आयोजन करता है। उस दिन तोतला देवी के मोहरे को वापिस लाकर छमाऊं देवता के रथ में पुन: सजाया जाता है। तब देवता को कोटला से चबाली की जोगनियों के पास ले जाते हैं। वहां देवता और जोगनियों का मेल मिलाप होता है। कई बार देवता को चबाली से वापिस लाना कठिन होता है। रस्से से खींचने पर भी वह देवता बार-बार पीछे हटता है और जोगनियों को

छोड़कर आना नहीं चाहता। परन्तु उसे हर स्थिति में वापिस कोटला ज़रूर लाना होता है ताकि अगला आयोजन किया जा सके।

वास्तव में इस क्षेत्र के सभी देवता पौष के प्रथम दिन स्वर्गलोक या देवलोक में चले जाते हैं। इनमें से अनेक देवता नया सम्वत् को ही देवलोक से 'ओसते' (उतरते) हैं और इस अवसर पर ओसणी मेला मनाते हैं। उस दिन अनेक देवता एक-दूसरे के पास जाते हैं और अपना दुःख-सुख सुनाते हैं। कुल्लू क्षेत्र में जोगनियों के बारे में अनेक प्रकार के लोक विश्वास प्रचलित हैं। कहीं उनको स्वर्ग की परी माना जाता है। तब उन्हें देवियों की तरह ही पूजा जाता है। उन्हें तम्बाकू और चमड़े से घृणा होती है। इसलिये तम्बाकू और चमड़े के जूते उनके मंदिरों के निकट नहीं लाए जाते। वे जल प्रपातों और पर्वत शिखरों पर रहती हैं। जल प्रपातों से जो इन्द्रधनुषी रंगीन धाराएं निकलती हैं तब वे उनमें नहा रही होती हैं। जोगनियां जहां कल्याणदायी होती हैं, वहां कभी-कभी अनिष्ट भी करती हैं। इनका अनिष्ट प्रभाव दूर करने के लिए एक विशेष विधि से कोई चपटा पत्थर लेकर उस पर कुछ पकवान आदि जोगनियों को भेंट किये जाते हैं। इस विधि को 'पौटड़ी शोटणी' कहते हैं। गूर या ब्राह्मण लोग जोगनियों की दिशाएं निर्धारित करते हैं और कहा जाता है —

आगे जोगण कदी नी रास
पीछे जोगण पुजली आस
दाहिणे जोगण आस धरे
बाऊंए जोगण आस भरे

जोगनी आगे हो तो अच्छा फल नहीं है। पीछे हो तो कुछ अच्छी आशा की उम्मीद है। दाहिने जोगनी हो तो आशा धरी-धराई रह जाती है। परन्तु यदि बाईं ओर हो तो भरपूर आशाएं रहती हैं।

अधिक क्षेत्रों में प्रचलित विश्वास के अनुसार जोगनियां जल परियां हैं। तब वे वर्षा की देवी मानी जाती हैं। अन्य देवता और लोग वर्षा मांगने के लिए उनके पास जाते हैं। विशेष रूप से जब भारी सूखा पड़ा हो तो उनकी विशेष रूप से पूजा-अर्चना की जाती है। सम्भव है कि चबाली की जोगनियां अवश्य ही जल परियां या वर्षा की देवियां होंगी और जब कभी कोटला का देवता छमाऊं देवलोक की बांट में कम वर्षा लाया हो तो वह अपने लोगों के लिये इन जोगनियों से वर्षा मांगता होगा और इस अनुनय विनय में समय लगता होगा। इसलिये वह रस्से से खींचने पर भी शीघ्र न आता होगा।

इस प्रकार कुल्लू का ग्रामीण समाज नव वर्ष बड़ी श्रद्धा, उत्साह, हर्षोल्लास और विधि-विधान से मनाता है और नूतन वर्ष को आनन्दपूर्वक निर्विघ्न समाप्त करने हेतु मंगल कामना करता है।

गांव शांघन, डा. भलयाणी,
जिला कुल्लू १७५१०२

संवीक्षण

संस्कृति के संदर्भ में संस्कृत की अभियुक्तता

डॉ. रमाकांत शर्मा आंगिरस

विद्वत्संगोष्ठी एक ऐसी समस्या के निदान का अन्वेषण है जो आज के भारतीय समाज के परिवेश में एक ओर बढ़ती हुई भौतिक सम्पन्नता और दूसरी ओर परम्परा-प्राप्त जीवन-मर्यादाओं की जर्जरता से उद्भूत तथा नए जीवन-मूल्यों की अनिश्चितता एवम् अपंगता से पैदा हुई विपन्नता के कारण उठ खड़ी हुई है। यद्यपि इतिहास-चक्र में सम्पन्नता और विपन्नता के अरों का ऊपर-नीचे आते-जाते रहना एक सामान्य बात है तो भी इनके दबाव से उत्पन्न थकान और टूटन से जुड़ी व्याधियों और महामारियों से बचने के लिए रोगी को जिस आन्तरिक जीवन की सशक्तता स्वात्म-निष्ठता एवम् स्वस्थता की आवश्यकता होती है उस के न होने से या न्यून होते जाने से चिकित्सकों के चिकित्सकोपाय कितने ही अधिक मूल्यवान् क्यों न हों, निरर्थक होकर धरे के धरे रह जाते हैं।

यह आन्तरिक जीवन क्या है ? इस आन्तरिक जीवन की अस्वस्थता-जन्य पीड़ाओं की, शरीर के स्तर पर होने वाली अभिव्यक्ति; मेरे विचार में, पांच सात प्रतिशत से अधिक नहीं होती। शेष पीड़ाओं का अनुमान आँखों और चेहरों पर उभर आई मूक विवशताओं की तरंगों से ही हो पाता है। अति प्राचीनकाल से प्रवर्तित इस देश की सांख्या— दृष्टि इस पीड़ा को आध्यात्मिक पीड़ा कह कर इसके उपचार ढूंढती रही है। सांख्य तीन प्रकार के फैले दुख-समुदाय को आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक कहता है। ये तीनों प्रकार के दुख, जो कि क्रमश: प्राणियों के द्वारा अपने सम्बन्धियों को दिए जा रहे हैं, अपने पर्यावरण के प्रकोप एवं प्रदूषण से पैदा किए जा रहे हैं, तीसरे वे दुख, जो अपनी शारीरिक चेष्टाओं और बढ़ती मनोग्रन्थियों की उलझनों से फैलते चले जाते हैं। यद्यपि इन तीनों दुखों का एक ही मौलिक केन्द्र है तथापि लोक एवं मनुष्य के जीवन में आन्तरिक जीवन का सीधा सम्बन्ध शरीर और मनस के अध्यात्मरूप से है। पुरानी किन्तु आयुर्वेदीय प्रणाली शरीर सम्बन्धी दुखों का कारण 'वात पित्त श्लेष्मा' जैसी त्रिधातु या त्रिदोष की विषमता को मानती है और भारतीय मनोविद्या काम, क्रोध, लोभ एवं मोहादि चित्त-विकृतियों के परिणामस्वरूप मानसिक दुखों का जन्म मानती है। किन्तु ये दोनों ही पीड़ाएं मनुष्यमात्र के आन्तरिक उपायों से ही साध्य होने के कारण आध्यात्मिक हैं।

मानव-मात्र का आन्तरिक जीवन ही उसकी या समाज की संस्कृति बनता है। अत: संस्कृति के स्वास्थ्य के लिए जिन आन्तरिक उपायों की आवश्यकता पड़ती है वे सभी आध्यात्मिक उपाय हैं। जब-जब भी बाहरी जीवन का बोझ अतियान्त्रिकता, अतिव्यस्तता या अतिसमृद्धता के कारण बढ़ने लगता है तो आध्यात्मिक उपायों से परिपुष्ट संस्कृति ही इसे झेलने में समर्थ हो सकती है। अन्यथा संस्कृतिविहीन, बढ़ती हुई आसुरी सम्पद् की मारधाड़ वाली जीवन-पद्धति थोड़े ही समय में बिखर जाती हैं —

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।।

मनुस्मृति ४–१७४

मनु कहते हैं कि अधर्म के माध्यम से अभ्युदय की चेष्टावाले लोग खूब फलते-फूलते, अपने शत्रुओं को भी जीत लेते हैं, किंतु अन्तत: समूल नष्ट हो जाते हैं। अधर्म या अनृत संस्कृति की घोर व्याधि है। इस व्याधि को तो वैसे उपनिषत्काल में ही खोज लिया गया था और ऋषि-मानस ने अपने वंशजों को इस बीमारी या महामारी से सदा सावधान रहने का निर्देश भी दे दिया था —

"समूलो वा एष शुष्यति योऽनृतमभिवदति" अर्थात् जो अनृत का आचरण करता है वह गुरु हो, राजनीतिज्ञ हो, कपट-धार्मिक हो, जड़ रहित पेड़ की तरह सूख जाता है। यह प्रश्न उठना चाहिए कि यह 'अनृत' क्या है जो मानव की अच्छी भली स्वस्थ संस्कृतियों को भी दीमक की तरह इतिहास की साक्षिता में चाट गया है और फिर संस्कृति भी क्या है जो इस व्याधि से जराग्रस्त हो जाती है। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर कौन से विज्ञान की प्रयोगशाला में ढूंढा जा सकता है ? इसे भी टटोलना चाहिए।

निस्सन्देह संस्कृति को लेकर बड़े-बड़े ग्रन्थ हमारे आधुनिकता के आचार्यों ने लिखे हैं। उसे अपनी समझ के अनुसार परिभाषित भी खूब किया है। किन्तु उसे सतत् परिवर्तनशील आन्तरिक चेतना या जीवन-पद्धति ही सिद्ध किया है जो मानवीय मूल्यों पर आधृत है, प्रतिष्ठित है। किन्तु यह परिभाषा परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सभी आधुनिक समृद्ध भाषाओं द्वारा व्याख्यात होने पर भी लोक-जीवन की व्यवहारवादी जीवन-दृष्टि में प्रभावी नहीं हो रही है। परिभाषण का तो मूल ही यह है कि जो हमारे ज्ञान, क्रिया, इच्छा सभी में मुखरित हो रहा हो। आचार्य शंकर ने जिस भगवान् दक्षिणामूर्ति का स्तवन किया है उनका तो मौन ही मुखरित हो रहा है। "जैसे भीतर से भरा हुआ घट छूने मात्र से ही अपने भरे होने का या परिपूर्णता का अहसास करा देता है, ऐसा ही कुछ परिभाषण होता है जिसे परिपूर्णता या सम्पन्नता की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।" संभवत: इसी का नाम संस्कृति है जिस के कारण लोक-जीवन में इच्छा, ज्ञान, क्रिया की दूरी कतई नहीं

रहती। एक समग्रता के साथ पूरा जीवन जिया जाता है। व्यवहारवादी सभ्यता के नाम पर क्षुद्र एवं खण्डित जीवन जीने की आकांक्षा नहीं रहती। महत्त्वाकांक्षाओं का रूप ऊर्ध्वमुखी होकर परिपूर्णता के मन्त्र– "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" के उच्चार से लेकर कबीर के "पूरे सों परचा (परिचय) भया" तक, और कबीर से जयशंकर प्रसाद की कामायनी तक इस परिपूर्णतावादी संस्कृति की ओर भारतीयता का मुख रहा। वह अपने यहां के विद्याव्यसनियों के व्यवहारवादी राजनीति, ज्ञान विज्ञान एवम् समाज-शास्त्र को भी मानव-विरोधी क्षुद्रताओं एवं सत्त्वहीनता से बचाने का प्रयास करती रही। व्यर्थ के अनृत-सेवन के मार्ग के दोनों छोरों पर मर्यादा की बाड़ लगाती रही।

लेकिन अब प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ है कि उस संस्कृति से चुराए हुए खण्डवाक्य "तमसो मा ज्योतिर्गमय" "सत्यमेव जयते नानृतम्" कार्यालयों, धर्म-संस्थानों में दीवारों पर टंगे हुए क्या कर रहे हैं ? तमस् और ज्योति, सत्य और अनृत की अवधारणाओं का स्थान क्या कोई महत्त्व रखता है ? जब श्रेष्ठ पदों पर आसीन व्यक्ति अनृत और तमस् को अपना जीवन-दर्शन मानने के व्योमोह में अपने पूर्वजों के इतिहासगत दुर्बल पक्षों को खोद-खोद कर अपने जीवन की दुर्बलताओं और अपनी निर्वीर्यताओं को न्यायसंगत ठहराने के लिए वकालत करने में लगे हों तो सांस्कृतिक चेतना के लोगों को अन्तर्मुख होकर इस संकट का सामना करना होता है। क्योंकि टेक्नोलाजी के उपयोग के बढ़ते अतिचार ने बाहर के पर्यावरण में प्रदूषण पैदा किया है उससे मानवीय चेतना के जड़ होकर जीने का खतरा पैदा हुआ है। मानवीय जीवन को सम्यक् कृति के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्नों में निरन्तर ढील आ गई है। न्याय-व्यवस्था, विश्वविद्यालयों, शिक्षा-संस्थानों, प्रशासन-संस्थाओं, राजनीति, लोक-कल्याण केन्द्रों में, यह ढील बिखराव के स्तर तक आ पहुंची है। उपभोग का बढ़ता हुआ असन्तुलन लोक-जीवन को अस्वास्थ्य की पराकाष्ठा की ओर ले गया है। नए आचार्य अपने उपभोग के बन्दी होने के कारण यह व्याख्या देते रहे हैं और दे रहे हैं कि ऐसा तो "पहले भी होता रहा है।" ऐसे उत्तर नए उभरते हुए लोक-मानस को पथभ्रष्ट और श्रीहीन तो कर सकते हैं, समाधान नहीं प्रस्तुत कर सकते। यही कारण है कि केवल ६४ वर्षों के इतिहास काल में इतने बड़े भारतीय गणतन्त्र में आज गणपति ही खो गया है। नेतृत्व-विहीन तंत्र या गण जब-जब भी आया है तब-तब ध्वंसकारी अराजकता लाया है। इस अनुमान या व्याप्ति में कोई उपाधि या अड़चन नहीं, जो इस तथ्य को मिथ्या सिद्ध करे। अतः बढ़ती हुई अराजकता की स्थिति के आगामी परिणामों को भली प्रकार निश्चित कर संस्कृत-संस्कृति जो उपचार बताती है वह है – "समुद्र-मन्थन"।

इस समुद्र-मंथन में नई पुरानी परम्पराओं को मन्दराचल बनना होगा और संस्कृत को वासुकिनाग का मन्थन-रज्जु। नीचे की ओर धंसते हुए मंदर पर्वत को बचाने के लिए विष्णु की कछुआ खोपड़ी की भी जरूरत पड़ेगी और शिव को विषपान की उदारता की भी बराबर अपेक्षा रहेगी। यहां के जनमानस-समुद्र में वनस्पतियों के रूप में उन सब मान्यताओं को एक साथ डालना होगा जो काई या फफूंदी की तरह प्राय: हर मस्तिष्क में उग आई हैं "कारवाँ आते गए हिन्दोस्तां बनता गया", "भारतीयता प्रगति-विरोधी है", "गांधी प्रतिक्रियावादी दर्शन के प्रतिनिधि थे", "अरविन्द अतीतपन्थी आधुनिक थे", "पश्चिम की विकृतिपूर्ण अनुकृति से ही कुछ नया जन्म लेगा", "सेमेटिक मजहबी धार्मिकता का अनुशासन ही अनुकरणीय है", आदि-आदि।

संस्कृत को मंथन रज्जु इसलिए बनना होगा क्योंकि भारत भूखण्ड ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड तक की होने वाली घटनाओं एवं गतिविधियों की छानबीन मनुष्य ने कितनी की है, और कितनी करनी चाहिए थी, इस बात की साक्षी आज केवल संस्कृत ही प्रामाणिक रूप दे सकती है और उसने मानवीय संस्कृकम के विलक्षण रूपों को समय-समय पर आत्मसात् करने के साथ-साथ स्वयं को उनके प्रतिनिधि एवं प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित किया है। बाणभट्ट अपनी प्रसिद्ध रचना कादम्बरी में कुल-संस्कृति की मर्यादित शक्ति को संस्कृत की पद-वाक्य-शक्ति से एक प्रकार से अभिन्न अंग मानते हुए कहते हैं –

"व्याकरणमिव प्रथममध्यमोत्तमपुरुषविभक्तिस्थितानेकादेशकारकाख्यात संप्रदाय क्रियाऽव्ययप्रपंचसुस्थितम्" (कुलम्) अर्थात् जैसे शब्द का पद संस्कारित रूपनिष्पत्ति के कारण व्याकरण की संस्कारण की अग्निप्रक्रिया में से निकलकर, तराशे हुए हीरकमणि के समान अपने भीतर से प्रकाश को बाहर की ओर फेंकते हैं ऐसे ही उस राजकुल का प्रत्येक व्यक्ति ऊपरी तौर से नहीं अपितु भीतर से सुसंस्कृति से सुशासित होकर जी रहा है। यह कुल संस्कृति ही सिद्ध होने के पश्चात् स्वयम् को धीरे-धीरे लोक-संस्कृति में बदलती है। इसी कारण भारत की लोकभाषाओं को संस्कृत ने प्रत्येक स्तर पर शब्द-राशि और विचार-राशि से परिपुष्ट किया और लोकभाषाओं ने भी उसी के शिव-शक्ति, विष्णु, आदित्य एवं गणपति आदि प्रजनन बिन्दुओं को घर-घर में प्रतिष्ठित कर लिया। इन्हीं बिन्दुओं से भारतीय संस्कृति की चेतना का निर्माण अब तक होता रहा है। इतिहास के सुदूर अतीत में ही जहां वाक् या वाणी को एक महाशक्ति के रूप में पहचान लिया गया और उसकी प्रस्थापना के दिनों में ही यह महाप्रश्न उठ खड़ा हुआ कि तत्त्व-मीमांसा आदि के महासिन्धु में प्रवेश से पूर्व वर्णों और पदों के उच्चारण की मीमांसा को कैसे सीखा जाए? तो, ब्राह्मण ग्रन्थों में भाषा सीखने की प्रक्रिया निरूपण के माध्यम

से वेदकाल में ही बहस छिड़ गई, जो समाजशास्त्र, धर्म-शास्त्र और नीतिशास्त्रों के लिए अनुकरणीय है। कोई भी बोली या भाषा तो प्रत्येक मनुष्य अपने स्वाभाविक परिवेश से स्वयं ही सीख जाता है किन्तु अपने यहां सहज गम्भीरता के साथ यह बात कही गई कि वर्ण बोलना शिष्टों से सीखिए। ये शिष्ट कौन हैं? महान् शब्दतत्त्व के मर्मज्ञ आचार्य पतञ्जलि कहते हैं कि इस आर्यभूमि पर केवल वे ब्राह्मण जो अपने पास छः दिन से अधिक का अनाज संग्रह नहीं करते (कुम्भीधान्याः) किसी प्रकार के भी लोभ से रहित (अलोलुपाः), जो किसी से किसी प्रकार के उपहार स्वीकार नहीं करते एवं जो किसी भी विद्या या विद्यांग में पारंगत हैं, उन्हें ही शिष्ट कहा जाना चाहिए — "एतास्मित्रार्य निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकरणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः"

अब यह प्रश्न उठता है कि बोलना सीखने के लिए आचार्य की उपर्युक्त गुणों से क्या संगति बैठती है ? क्या ये केवल आचार्य के नैतिक मानदण्ड मात्र हैं ? या इनकी अर्थवत्ता कुछ और है ? या वह वाक् की अपनी ही कोई अनुशासित संस्कृति है, जो लोक को यथार्थ ज्ञान के प्रकाश से जोड़ने का उपाय करती है। निश्चय ही वाक्तत्त्व को लेकर इतनी सूक्ष्मग्राहिता, संवेदनशीलता तो आज के भाषाविद् लोगों में भी नहीं दिखाई पड़ती। मैं यहां संस्कृत के केवल उन लोगों की बात कर रहा हूं जिन्होंने न जाने किस स्फुरण-शक्ति के बल पर शब्द और अर्थ के सहचार सम्बन्ध को नित्य मानते हुए भी शब्द के संस्कार की बात क्यों कही ? क्या अर्थ का संस्कार नहीं होता ?

वस्तुतः यह बात बहुत पहले समझ ली गई थी कि शब्द ही मानुषी चेतना का स्वतःस्फूर्त सहज रूप है; शब्द ही मानुषी सृष्टि का सबल तथ्य है। शब्द का संस्कार ही चेतना के आवरण का संस्कार है। इसीलिए इस परम्परा को जीवित रखा गया कि याज्ञिक क्रिया-कलापों में क्रिया या द्रव्यात्मक तथ्यों का कोई उपयोग तब तक नहीं हो सकता जब तक उसे मन्त्र के साथ संगत बना कर न प्रस्तुत किया जाए। तन्त्रशास्त्र में यह बात और भी स्पष्ट कर दी गई कि जब भी हम किसी दिव्य चेतना को मूर्ति में, यन्त्र में और मन्त्र में उतारते हैं तो तीनों जगह उसी शब्द-चेतना का अनुसरण होता है जो प्रतिमा को जीवन्त बना देती है, यन्त्र की रेखाओं को प्राण-शक्ति-संचार के तार बना देती है और मन्त्र को बोधरूप चैतन्य बना देती है। इसलिए प्राप्त हुए तथ्यों को मानवी जीवन्तता के साथ जोड़ना ही भाषा के वाक्-रूप संस्कार का लक्ष्य है। इस बात को वैदिकों से लेकर आधुनिक सन्त—समुदाय तक के लोगों ने संस्कृत की इस शब्द-संस्कृति को ही लेकर नाम-स्मरण या जपयज्ञ के माध्यम से चेतना के रूपान्तरण की बात कही है। कईयों ने इसे "शब्द-सुरति-योग" भी कहा।

संस्कार के लिए उपासना अनिवार्य है। इस अनिवार्य उपासना से संस्कृत भाषा में जिस आधारभूत संस्कृति का स्फोट हुआ वह जैनियों की संस्कृत में इस रूप में स्फुटित हुआ —

स्वागमं रागमात्रेण द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा।।

अर्थात् हम अपने शास्त्र को इसलिए अच्छा नहीं कहेंगे कि वह हमारा है या हमारा उसमें राग है और न ही हम दूसरों के शास्त्र को द्वेषबुद्धि के कारण बुरा कहेंगे। बल्कि हम तो मध्यस्था दृष्टि का आश्रय लेकर बात कहेंगे। लेकिन मध्यस्थ दृष्टि पैदा तभी होगी जब तपश्चर्या अथवा अन्त:जागृति के कारण जन्म-मरण के भय से मुक्त चित्त से हम चिन्तन कर सकेंगे। फिर चाहे कोई ब्रह्मा हो, विष्णु हो या जिन हो, हम नमस्कार ही करेंगे

भवबीजांकुरजनना रागाद्या: क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।

वस्तुत: भारतीय मानस में इस तटस्थ अध्यात्मदृष्टि के विकास के लिए जो प्रयत्न हुए थे उन पर बीच-बीच में संस्कृति-शून्य बर्बर आक्रान्ताओं के परेड करते हुए सैनिकों के पाँवों की धूलियां आतंकित अवश्य करतीं रहीं। लेकिन यह प्रयत्न तो चलता रहा। पर कठिनाई तो बड़ी भारी थी। एक ओर तत्त्व-ज्ञान और मध्यस्था दृष्टि के विकास के लिए हो रहे अत्यन्त ही संवदेनशील (हाइपर-सेन्सिटिव) प्रयास और दूसरी ओर केवल धन-सम्पत्ति की लूट के लिए होने वाली नितान्त संवेदन-शून्य क्रूरा और घोरा प्रवृत्तियां। पर संवेदना सूक्ष्म और कोमल कितनी ही हो, उससे उत्पन्न होने वाली आस्था दुर्गा के रूप में या वैष्णव अवतारों के रूप में जन्म लेती ही रही है।

वैदिक-बोध की मुख्य धारा पर पले ऋषि-प्राण और पाणिनी, पतंजलि एवं भर्तृहरि आदि इस बात को बहुत खूब समझते हैं कि मनुष्य का जीवन उपभोग से आनन्द-प्राप्ति के चक्कर में अधिकांशत: आत्म-पीड़ाओं को जन्म दे लेता है। क्योंकि उपभोगों के सन्निकर्म से चेतना में जो मल आते हैं वे कायिक, वाचिक एवं मानस होते हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि काया में पैदा होने वाले मलों का संस्कार या शोधन चिकित्सा-शास्त्र से, वाणी के मलों का संस्कार लक्षण-शास्त्र व्याकरण या शब्दानुशासन से और बुद्धि के मलों का संस्कार तत्त्वविद्या से किया जाना चाहिए या होता है —

कायवाग्बुद्धिविषया ये मला: समवस्थिता:।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धय:।।

किन्तु काय और बुद्धि दोनों ही वाक् पर निर्भर करते हैं। अथवा तीनों भिन्न होते

हुए भी अभिन्न होते हैं। चेतना का समस्त व्यापार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य के माध्यम से, मुखरता और मौन के सापेक्ष सम्बन्धों से होता है। अत: संस्कृति का मूलसूत्र यदि कहीं से पकड़ने की आवश्यकता पड़े तो वाक्सूत्र के माध्यम से ही पकड़ा जा सकता है। अद्वैतवेदान्ती तो इस हद तक पहुंच गए कि धर्म, अर्थ, काम को तो उन्होंने विशुद्धा वाक् का प्रसव माना ही किन्तु मोक्ष को भी केवल एक वाक्य या महावाक्य की प्रसूति माना और वह वाक्य है "तत्त्वमसि"। किन्तु यह वाक्य गुरु और शिष्य दोनों के लिए उपासना की वस्तु है। इस महावाक्य की संस्कृति या सम्यक् कृति अथवा जीवन-दृष्टि का सम्यक् प्रतिफलन व्यवहार में कैसा होता है। श्री विद्यारण्य इसका विवरण देते हैं, जो उपनिषदों के ही एक अन्य महावाक्य– "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:, श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्य:" की परम्परा पर आधारित है "यह आत्मा देखने की वस्तु है।" उसी का मनन कथन आदि ब्रह्माभ्यास की प्रक्रिया है–

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधन्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधा:।। *पंचदशी*

यहां पर हमारा केवल इतना ही मन्तव्य है कि वर्तमान में हमने जो निरन्तर के संघर्ष से स्वतन्त्रता प्राप्त की, उसके परिणामस्वरूप प्राय: बहुत सी भौतिक सुख समृद्धि का विकास हुआ। हर क्षेत्र में हमारे युवा-मानस का प्रवेश हुआ है। किन्तु हर क्षेत्र में उभरती हुई दायित्वहीनता, अगम्भीरता, कृत्रिमता के प्रति उन्माद ने सभी क्षेत्रों में राजनीति, समाजनीति, विज्ञान-ज्ञाननीति में सर्वत्र एक धुंधलका ला दिया है। कभी हम 'वेलेन्टाइन डे' और कभी हम पश्चिम की आणविक संस्कृति के कचरे को जनसामान्य में बांट कर, उनके चित्त और चेतना को प्रदूषित करने का पाप लेकर सत्ता में बने रहना चाहते हैं। इसका प्रायश्चित कौन करेगा ? कैसे होगा ? करने की आवश्यकता भी है या नहीं ? इन प्रश्नों को यहां की मिट्टी, हवा, पानी, आकाश के सन्दर्भ में सोचना होगा। क्योंकि आज की सोच हमारे हाथ में है। अब तो राम, भीष्म, द्रोण आदि कोई भी हमारे बीच में नहीं है जिन पर आरोपों की बौछार कर हम स्वयं के अहं की तृषा शान्त कर सकेंगे। आप हम सभी मैदान में हैं।

इस विषय के सम्प्रेषण का दायित्व संवेदनशील विद्वानों के ध्यान में लाया जा रहा है जो संस्कृत और संस्कृति के विषय में आस्था रखते हैं और अपनी परम्परा के बोध और अनुभव के बल पर संस्कृत के सार्वजनिक उस रूप को देखने में, उसके शिल्प या संरचना की दृष्टि से अथवा उसके बोध की दृष्टि से, यानि साहित्य-कला-विज्ञान की दृष्टि से, उसे मूल्यांकित कर सकते हैं कि वह संस्कृत हमारे यहां की उपयोगी और ललित कलाओं और वैज्ञानिक उपलब्धियों की जीवन-पद्धति को पुन: परिभाषित कर उन्हें एक

सांस्कृतिक संवेदना के साथ जोड़ सकती है या नहीं ? क्योंकि इस संस्कृत का उद्‌भव या आविर्भाव यहीं की हवा, पानी, मिट्टी या आकाश, यहीं के नदी, वन, पर्वतों, नालों, खेतों, खलिहानों और लोकभाषाओं के साथ आदान-प्रदान से हुआ है। इसी से प्राचीनों ने इसे 'राष्ट्री', 'वसूनां संगमनी', 'भारती' आदि नामों से चर्चित किया है और उपनिषदों में मुक्त कंठ से घोषणा कराई कि आइए हम सब मिलकर जीवन के उस सूत्र की खोज करें जो स्वल्पता या क्षुद्रता में नहीं, अपितु विराट भूयसी बहुला भूमा के रूप में, समग्रता में, जीना सिखा सके। जो टूटते हुए लोगों के बीच सेतु का काम करे। अपनी ही उपलब्धियों से पैदा हुए उद्वेग और भय से सब भूतों को अभयदान दे सके। इस संस्कृत को मात्र चलतू कर्मकाण्ड और चलतू ज्योतिष आदि की भाषा मान कर हम अपने सूर्य को जुगनू मान लेने या बना देने के आग्रह से बचने का प्रयास करें। क्योंकि भर्तृहरि आदि आचार्य, जिन्हें विश्व के भाषा-दर्शन में वरिष्ठतम स्थान प्राप्त है, बार-बार शब्द-ब्रह्मवाद की इस संस्कृति को संस्कारित शब्द-ब्रह्मरूपी सूर्य के अद्वितीय आलोक की अभिव्यक्ति मानते हैं जिसमें विश्व के सभी दर्शन समाविष्ट होने की क्षमता रखते हैं। इसी वाग्ब्रह्म द्वारा प्रतिपादित उपनिषद् की ब्रह्म-विद्या यदि किसी सूखे ठूँठ को भी सुना दी जाए तो उस में भी नए जीवन की शाखाएं और नई कोंपलें फूट पड़ेंगी। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी प्रकार का काव्यात्मक वर्णन सत्यकाम ने अपने शिष्य गोश्रुति को यही विद्या देने के बाद किया है –

यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात।
जायरेन् एव अस्मिन् शाखाः प्रारोहेयुः पलाशानि।।

उपनिषद्-मनोविज्ञान कहता है कि मनुष्य जैसी कामनाओं और संकल्पों वाला होता है अर्थात् जैसे पदार्थों और वस्तुओं की उपासना या अनुशीलन करता है वैसे ही उसकी क्रियाएं और चेतना हो जाती हैं। भगवद्‌गीता एक संकेत देती है कि "देवव्रत अर्थात् देवताओं की उपासना करने वाले लोग देवताओं के पास चले जाते हैं, भूतों की उपासना करने वाले लोग भूतों के पास और चैतन्य की उपासना में लगे लोग, मैं, जो चैतन्यरूप हूं, मेरे पास आ जाते हैं।" विषयरूप पदार्थ का स्वभाव ही है कि वह उपासित होकर चित और चेतना को "स्टॅफी" या ठुसा हुआ बना देता है। यह जड़ता संस्कृति नहीं हो सकती। इसलिए रसायनशास्त्र आदि अथवा भूतविद्याओं की अपनी कोई संस्कृति नहीं होती। वहां तो विषय-पदार्थ जैसा कहता चलता है वैसा ही मनुष्य होता चलता है। संस्कृति केवल चेतना का दर्शन है। इसलिए संस्कृति जब आती है तो चेतना की प्रासादिकता से जड़ पदार्थ भी चैतन्यरूप या चेतन के अभिव्यंजक हो जाते हैं। यही कारण है कि संस्कृत की संस्कृति में तृण, तरु, लता, गुल्म और पाषाण भी श्याममय या

शिवमय चेतना को अभिव्यंजित करते दृष्टिगत होते हैं। मन्दिर और मूर्तिकलाओं के माध्यम से यह संकेत पर्याप्त स्पष्ट है कि बुद्धमूर्तियों और जैनमूर्तियों में शिल्पियों ने ज्ञानमुद्रा या चिन्मुद्रा को पत्थर में उतार दिया है। इसलिए भूत-पदार्थ चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर तो संस्कारित हो उठता है। परन्तु चैतन्य का प्रत्यक्ष तो समाधिगम्य है। सम्यक् समाधि से ही चैतन्य को भूत पदार्थों में अवतरित किया जाता है और संस्कृत को समाधिभाषा सरलता से माना जा सकता है जो आज के भौतिक परिवेश की स्थूलता और उपभोग से 'स्टॅफी' (ठोस) होती जाती मानव-चेतना को संस्कृति प्रदान कर जीवनदृष्टि का परिवर्तन कर सकती है। संस्कृत-संस्कृति के आदिकवि वाल्मीकि के काव्य के पात्र हनुमान जो महान वैय्याकरण एवं भाषा दार्शनिक भी थे उन्होंने लंका में जाकर सीता की खोज आरम्भ की तो राम द्वारा बताए गए सीता सम्बन्धी संकेतों के आधार पर पास होने पर भी सीता के सम्मुख आने पर वे निश्चय नहीं कर पाए कि वे सीता ही हैं क्योंकि भगवती सीता की शारीरिक और मानस अवस्था ऐसी थी जैसे संस्कार से रहित वाणी, जो अभिमत अर्थ को न दे पाने के कारण अपने स्वरूप से स्खलित हो गई हो या अर्थान्तर को प्राप्त हो गई हो "संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्" (सुन्दरकाण्ड १५-३९) अथवा जैसे कोई विद्या अपने मूल आमान्य या सिद्धान्त से कट कर झुरा गई हो या मुर्झा गई हो – "आमान्यानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव" (सुं०का० १५-३८)

वाक् के संस्कार के प्रति एवं संस्कार से वाक् की सिद्धि के प्रति संस्कृत के मनीषियों की निष्ठा का समग्रभाव से विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो उठता है कि अतिप्राचीन काल से आज तक संस्कृत के प्रति उसकी अभियुक्तता के प्रति उन मनीषियों का आत्म-समर्पण रहा। भले ही पण्डिताभासों, वकव्रतिकों और बिडालव्रतिकों ने अपनी क्षुद्र स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसके स्वरूप को मलिन किया हो। किन्तु वह सब तो संस्कृतियों के इतिहास में यदा कदा होता ही रहता है –

"न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" नीतिशतकम्।। भर्तृहरि

पूर्व संस्कृत प्राध्यापक,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

आचार्य दर्शन

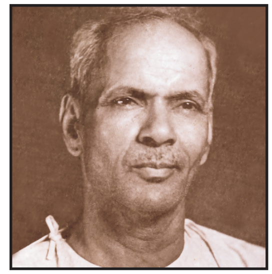

जन्म शताब्दी वर्ष
कलियुगाब्द 5012–5112

राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई

पं. श्रीराम शर्मा 'आचार्य'

भारत में राष्ट्र सदैव एक सांस्कृतिक शब्द है, राजनीतिक नहीं। पश्चिमी देशों में राष्ट्र को राज्य 'नेशन या स्टेट' के रूपों में ही लिया जाता है। वहां राष्ट्र एवं राज्य समानार्थी माने जाते हैं। उसका अस्तित्त्व राज्य सत्ता पर निर्भर करता है। अब उसे तकनीकी आर्थिक (टेक्नो इकॉनॉमिक्ल) इकाई भी माना जाने लगा है। यही कारण है, वहां सभी ओर स्वार्थपूर्ण स्पर्धा, संघर्ष का वातावरण ही पनपता रहता है।

भारत में राष्ट्र सदैव से एक सांस्कृतिक इकाई है। राष्ट्र उपास्य है, इष्ट है। सैकड़ों राज्यों, विभिन्न उपासना पद्धतियों, विभिन्न भाषाओं एवं विभिन्न वेशभूषाओं के होते हुए भी भारत 'एक राष्ट्र' रहा है। हमारे ऋषियों ने संसार की प्रकृति प्रदत्त विविधताओं को बहुत सहज भाव से स्वीकार किया किन्तु मनुष्य के अन्त:करण में स्थिर परिष्कृत चेतना को लक्ष्य कर के सांस्कृतिक एकता के भाव भरे सूत्रों को विकसित एवं प्रतिष्ठित करने में सफलता पायी।

मानवीय चेतना विज्ञान के मर्मज्ञ ऋषियों ने अनुभव किया कि केवल भौतिक आधारों पर बनाये गये सम्बन्ध टिकाऊ तथा चिरंजीवी नहीं हो सकते। भौतिक आधारों को प्रधानता देकर चलने से स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, शोषण आदि का समावेश देर-सवेर हो ही जाता है। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीय अवधारणा को कालजयी बनाने के लिए सांस्कृतिक आधारों को ही प्राथमिकता दी तथा सांस्कृतिक सूत्रों को उन्होंने जन-जन के भावनात्मक स्तर तक गहराई से बिठाने में सफलता पायी। यही कारण है कि हम गर्व से कह पाते हैं– ''कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, भले ही सदियों तक 'दौरे जहां (सांसारिक

राजनीतिक चक्र) हमारा दुश्मन रहा है।''

'भारतभूमि' निर्जीव भूखण्ड नहीं है, एक चेतन सत्ता है, स्वर्गादपि गरीयसी है। वह तपशक्ति एवं सद्‌भावनाओं को अपने अंदर धारण करने में, उन्हें बीजों की तरह फलित विकसित करने में समर्थ है। संतों के, ऋषियों के तप को धारण करने के कारण इस भूमि में जगह-जगह तीर्थ बन गये हैं। उनके प्रति जनश्रद्धा क्षेत्र एवं भाषा भेद से ऊपर उठकर सतत् प्रवाहमान है। सांस्कृतिक अवधारणा हर भारतीय की रगों में रक्त की तरह सतत् प्रवाहित है।

आयोध्या में जन्मे राम कन्याकुमारी में रामेश्वरम् की स्थापना करते हैं। बृज के श्रीकृष्ण द्वारिका में अपना आवास बनाते हैं। बंगाल के चैतन्य बृज में आकर अपने इष्ट के लीला क्षेत्र को खोजते हैं। केरल में जन्मे शंकराचार्य चारों दिशाओं में चार धामों की स्थापना करके कश्मीर के सरस्वती मन्दिर के पट खोले बिना अपनी यात्रा पूर्ण नहीं मानते। वे अपना शरीर दक्षिण में नहीं, उत्तराखण्ड में छोड़ना पसन्द करते हैं, गंगोत्री का जल पिये बिना रामेश्वरम् की प्यास नहीं बुझती। उत्तराखण्ड के देवालयों के देवता दक्षिण के पुजारी मांगते हैं। भक्त को रामेश्वरम्, केदारनाथ, सोमनाथ, विश्वनाथ, पशुपतिनाथ, महाकालेश्वर, अमरनाथ आदि सभी जगह एक ही इष्ट के दर्शन होते हैं। वैष्णो देवी से कन्याकुमारी तथा अम्बाजी (गुजरात) से कामाख्या (आसाम) तक एक ही मातृसत्ता को नमन किया जाता है।

यह भाव भरी सांस्कृतिक चेतना ही उस कालजयी राष्ट्र को बनाती है जो 'भारत' कहलाता है। इस राष्ट्र का संगठन राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं से न कभी किया जा सका है और न कभी किया जा सकेगा, किन्तु सांस्कृतिक सूत्रों में बंधकर यह राष्ट्र सदैव विश्व मुकुट बना है और पुन: बनकर रहेगा।

जन्मजात देशभक्त : डॉ. हेडगेवार

चन्द्रशेखर परमानन्द भिशीकर

राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ का नाम आज केवल भारत में ही नही, दुनिया भर में फैल चुका है। सभी मानते हैं कि आर.एस.एस. हिन्दुओं का एकमेव प्रभावी संगठन है। संघ के विरोधी भी इस बात से इन्कार नहीं कर पाते कि भारत के राष्ट्रजीवन में संघ का अपना एक विशेष स्थान है। तब स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि इस संगठन का प्रारंभ कब, किसने, कहाँ और क्यों किया? संघ के जन्मदाता का जीवन कैसा था? ऐतिहासिक भूमिका निभाने वाले इस संगठन का निर्माण करने की प्रेरणा उन्हें कहां से मिली? संघ आरंभ में जैसा था अब भी वैसा ही है या उसमें कोई परिवर्तन हुआ है? आदि।

डॉ. हेडगेवार का जन्म कलियुगाब्द ४९९१ की चैत्र शुद्ध प्रतिपदा, १ अप्रैल १८८९ ई. के दिन नागपुर के एक गरीब वेदपाठी परिवार में हुआ था। जन्म के समय किसी भी प्रकार की अनुकूलता उन्हें प्राप्त नहीं थी। पुरोहिती कर आजीविका चलाने वाला उनका परिवार नागपुर की एक पुरानी बस्ती में निवास कर रहा था। घर का वातावरण आधुनिक शिक्षा और देश के सार्वजनिक जीवन से सर्वथा अछूता था।

किन्तु जन्म से ही भगवान ने डॉक्टर साहब को एक अनोखी देन दी थी जिसके बल पर वे अपने जीवन को कर्तृत्ववान्, परिस्थिति को बदलने की क्षमता रखने वाला और आदर्श बना सके। यह ईश्वरीय देन थी – जन्मजात देशभक्ति और समाज के प्रति गहरी संवेदनशीलता। उमर के आठवें वर्ष में ही उनका परिचय केशव के संगी-साथियों पड़ोसियों और घर के लोगों को मिलने लगा था। इस उमर में ही उनके मन में ऐसा भव्य विचार आया कि इग्लैंड की रानी विक्टोरिया का राज्य पराया है और उसके साठ साल पूरे होने की खुशी में जो मिठाई बांटी गयी, उसे खाना हमारे लिए लज्जा की बात है और मिठाई का वह दोना उन्होंने एक कोने में फैंक दिया। चार साल बाद सातवें एडवर्ड का राज्याभिषेक समारोह जब बड़े ठाठ-बाट से मनाया गया तब उसमें भी केशव ने भाग नहीं लिया। बाल केशव ने कहा ''पराये राजा का राज्याभिषेक समारोह मनाना हम लोगों के लिए घोर लज्जा की बात है।'' विद्यालय में पढ़ते समय नागपुर के सीताबर्डी किले पर अंग्रेजों के झंडे 'यूनियन जैक' को देखकर उन्हें बड़ी बेचैनी होती थी और मन में लालसा जागती थी कि उसके स्थान पर भगवा झंडा फहराया जाये। एक दिन एक अनोखी कल्पना

उनके मन में उभरी कि किले तक सुरंग खोदी जाय और उसमें से चुपचाप जाकर उस पराये झंडे को उतारकर उसकी जगह अपना झंडा लगा दिया जाये। तदनुसार उन्होंने अपने मित्रों सहित सुरंग खोदने का काम शुरू भी किया था।

देशभक्ति जीवन का स्वर

यह जो क्रियाशील देशभक्ति का भाव डॉक्टर हेडगेवार के बचपन में प्रकट हुआ, वही उनके पूरे जीवन में अखंड रूप से बना रहा और उनके सारे जीवन को प्रकाशित करता रहा। वे जब नागपुर के नीलसिटी हाईस्कूल में पढ़ रहे थे, तभी अंग्रेज सरकार ने कुख्यात रिस्ले सर्क्युलर जारी किया। इस परिपत्र का उद्देश्य विद्यार्थियों को स्वतंत्रता के आन्दोलन से दूर रखना था। नेतृत्व का गुण केशवराव हेडगेवार में विद्यार्थी अवस्था से ही था। शाला के निरीक्षण के समय उन्होंने प्रत्येक कक्षा में निरीक्षक का स्वागत 'वंदे मातरम्' की घोषणा से कराने का निश्यच किया और उसे सफलता के साथ पूरा कर दिखाया। विद्यालय में खलबली मच गयी, मामला तूल पकड़ गया और अंत में उस सरकार मान्य विद्यालय से उन्हें निकाल बाहर कर दिया गया। फिर यवतमाल की राष्ट्रीय शाला में उन्होंने मैट्रिक की पढ़ाई की, किन्तु परीक्षा देने के पूर्व ही वह शाला भी सरकारी कोप का शिकार हो गयी। इसलिए उन्हें परीक्षा देने अमरावती जाना पड़ा।

जब कोई राष्ट्र गुलाम होता है तब देशभक्ति से जलते अंत:करण बड़े ही संवेदनशील हो जाया करते हैं। 'काल'– और 'केसरी' सरीखे समाचार-पत्रों के आग उगलते लेख, लोकमान्य तिलक के गरजते भाषण, अंग्रेजी साम्राज्यवाद का दमनचक्र, बंग-भंग के विरोध से उभरा उग्र आन्दोलन, क्रान्तिकारियों के साहस भरे कार्य और उनके बलिदान आदि बातें यदि केशवराव पर कोई असर न करतीं, तो ही आश्चर्य की बात होती। केशवराव निर्भीक और साहसी थे तथा देश के लिए किसी भी प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार थे। अपने लिए पैसा, मान-सम्मान, प्रसिद्धि, आराम आदि किसी बात की भी अभिलाषा उनके मन में कभी पैदा नहीं हुई। उन्होंने सन् १९१० में कलकत्ते के नेशलन मेडिकल कॉलेज में डॉक्टरी की शिक्षा के लिए प्रवेश लिया ताकि उनका बंगाल के क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हो सके और बाद में वे वैसा ही कार्य विदर्भ में कर सकें। वहां पुलिनबिहारी दास के नेतृत्व में 'अनुशीलन समिति' नामक क्रान्तिकारियों की एक टोली काम कर रही थी। इस समिति के साथ केशवराव का गहरा संबंध स्थापित हुआ और वे उसके अंतरंग में प्रवेश पा गये।

क्रान्तिकारी तेवर

कलकत्ते के मेडिकल कॉलेज में पांच वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा कर वे 'डॉक्टर' बन गये। इस पांच वर्ष के कालखंड में किये गये अपने कार्यकलापों के संबंध में वे कभी

कुछ नहीं बोले। पर यह सुविदित है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अगुवाई करने वाले नेताओं का उन्होंने स्नेह प्राप्त किया। स्थान-स्थान के क्रान्तिकारियों से उनकी घनिष्ठता बढ़ी और उन सभी को शस्त्रास्त्र इधर से उधर गुपचुप पहुंचाने के काम में उनकी सावधानी, संयम, योजकता आदि गुणों का परिचय प्राप्त हुआ। इस काम में प्रान्त और भाषा की अड़चन उनके आड़े नहीं आयी। बंगाली भाषा उन्होंने भलीभांन्ति सीख ली थी और अनेक लोगों से मैत्री सम्बन्ध जोड़ लिये थे। बाढ़, महामारी आदि संकटों के समय उन्होंने अपने तरुण मित्रों को साथ लेकर परिश्रमपूर्वक नि:स्वार्थ सेवा की। केशवराव जब डाक्टरी की उपाधि प्राप्त कर नागपुर वापस आये, उस समय प्रथम महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे। उन्हें लगा कि यह उपयुक्त समय है जब क्रान्तिकारी आन्दोलन का संगठन कर अंग्रेज सरकार को चुनौती दी जा सकती है। उसके लिए अनेक खतरे उठाते हुए वे आन्दोलन में भाग लेते रहे।

किन्तु यह बात उनके ध्यान में आये बिना नहीं रही कि सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग की अपनी सीमाएँ हैं और इस मार्ग से भारत जैसे विशाल देश से परायों को उखाड़ फैंकना संभव नहीं है। अत: जितनी सावधानी से उन्होंने इस कार्य को फैलाया था, उतनी ही सावधानी से धीरे-धीरे समेट लिया। इस काम में अनेक वर्ष लगे। यदि एक मार्ग से सफलता नहीं मिली तो उससे वे निराश या हताश नहीं हुए। देशभक्ति और नि:स्वार्थ भाव से काम में लगे रहना उनका स्वभाव था।

आन्दोलन का मार्ग

एक ओर जहां वे क्रान्ति के लिए जमा किये गये शस्त्रास्त्रों को ठीक ठिकाने लगाने और उस काम में जुटे व्यक्यिों की सुरक्षा व्यवस्था करने में लगे थे, वहीं दूसरी ओर लोकमान्य तिलक के अनुयायी बनकर कांग्रेस के आन्दोलन में कूद पड़े। लोकमान्य तिलक के प्रति डाक्टर साहब की इतनी भक्ति थी कि एक बार जब कलकत्ते की एक जन-सभा में एक वक्ता ने तिलक जी को अपशब्द कहे तो डाक्टर साहब ने मंच पर जाकर उसे ऐसी जोरदार थप्पड़ मारी कि उसका थोबड़ा लाल हो गया। वे पूर्ण स्वतंत्रता के हामी थे और अपनी यह बात बड़े आग्रह के साथ रखा करते थे। जहां भी अवसर मिलता, वे अत्यन्त उग्र व उत्तेजक भाषण दिया करते थे। डाक्टर साहब ने कांग्रेस के अन्दर ही उग्र विचारों का एक गट खड़ा किया था।

इन्हीं दिनों महात्मा गांधी का भारत के राजनीतिक क्षितिज पर उदय हो रहा था। देश में असन्तोष घुमड़ने लगा था। अंग्रेज सरकार द्वारा रौलेट की रिपोर्ट के आधार पर देश में एक दमनकारी कानून जारी किया जाना इसका प्रमुख कारण था। इस कानून के द्वारा सरकार को बड़े व्यापक अधिकार मिल गये थे। वह किसी को भी, केवल संदेह के आधार पर, देशद्रोह का आरोप लगाकर बंदी बना सकती थी, बिना जांच किये कैद में डाले रख

सकती थी, अथवा किसी भी हलचल पर प्रतिबंध लगा सकती थी। इस कानून का विरोध करने के लिए अमृतसर के जलियांवाला बाग में जो सभा हुई उस पर अत्यंत क्रूरतापूर्वक गोलियाँ चलायी गयीं जिसने सैंकड़ों लोगों की बलि ले ली।

दूसरी बात यह हुई कि अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने तुर्की के खलीफा को गद्दी से उतार दिया था जिसके कारण मुसलमान ब्रिटिश शासन के खिलाफ भड़क उठे थे। महात्मा गांधी ने इन दोनों कारणों से उत्पन्न जन-असंतोष का स्वराज्य के आन्दोलन को तेज करने के लिए भरपूर लाभ उठाना चाहा। 'खिलाफत' आन्दोलन को समर्थन देकर अंग्रेजों के विरुद्ध हिन्दुओं और मुसलमानों का संयुक्त मोर्चा खड़ा करने का उन्होंने निश्चय किया और सत्याग्रह आन्दोलन की घोषणा की। सन् १९१९ का कांग्रेस अधिवेशन अत्यन्त तनावपूर्ण वातावरण में अमृतसर में सम्पन्न हुआ और अगले वर्ष का अधिवेशन नागपुर में करने का निश्चय किया गया। अमृतसर के अधिवेशन में डाक्टर हेडगेवार उपस्थित थे।

१९१५ से १९२० ई. तक नागपुर में रहते हुए डाक्टर साहब राष्ट्रीय आन्दोलनों में अत्यन्त सक्रिय रहे। प्रवास, सभा, बैठक आदि कार्यक्रमों में वे सदा व्यस्त रहा करते थे। किन्तु तरुणों में पूर्ण स्वतंत्रता की आकांक्षा धधकाने पर वे विशेष ध्यान देते थे। हाथ में लिये काम में अपने आपको झौंक देने, सहयोगियों को जोड़ने और नि:स्वार्थ भाव से काम करने के उनके गुणों के कारण नेता लोगों को उनका सहयोग अत्यन्त मूल्यवान प्रतीत होने लगा। स्वयं को जो लगता था उसे बिना लाग-लपेट के बड़े नेताओं के सामने रखने का साहस भी डॉक्टर जी में था। सन् १९२० के नागपुर कांग्रेस अधिवेशन में उनके इन गुणों का अनुभव सबको हुआ और मतभेदों के होते हुए भी संस्था के अनुशासन का पालन करने का उनका एक और अनुकरणीय गुण भी सबको देखने को मिला।

स्वतंत्रता का लक्ष्य

विदर्भ के सभी छोटे-बड़े कार्यकर्त्ताओं की यह तीव्र इच्छा थी कि नागपुर का अधिवेशन लोककमान्य तिलक की अध्यक्षता में हो। किन्तु उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी, क्योंकि उसके पहले ही १ अगस्त, १९२० को मृत्यु ने उन्हें छीन लिया। इस दु:खद समाचार के नागपुर पहुंचने पर यह प्रश्न उठा कि अब अध्यक्ष कौन बने? नागपुर के गरमदलीय नेताओं ने पांडिचेरी में साधना कर रहे पुराने क्रान्तिकारी श्री अरविन्द घोष को निमंत्रित करने का निश्चय किया। डॉ. मुंजे और डाक्टर हेडगेवार अरविन्द बाबू से मिलने पांडिचेरी गये और उनसे अध्यक्षता स्वीकार करने का बहुत आग्रह किया। किन्तु आध्यात्मिक साधना का मार्ग अपना लेने वाले अरविन्द बाबू पुन: राजनीति में आने के लिए तैयार नहीं हुए। तब कांग्रेस के नरमपंथियों में से ही श्री विजयराघवाचारी को अध्यक्ष पद के लिए चुना गया। डाक्टर साहब को यह नाम पसंद नहीं था, किंतु एक बार चयन हो

जाने के बाद उन्होंने अधिवेशन की सफलता के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी। अधिवेशन में आये साढ़े चौदह हजार प्रतिनिधियों की सुख-सुविधा और अन्य व्यवस्थाएँ संभालने के लिए डॉ. ल.वा. परांजपे और डॉ. हेडगेवार के नेतृत्त्व में एक स्वयंसेवक दल का गठन किया गया था। यह सारी जिम्मेदारी उन्होंने इतने अच्छे ढंग से निभायी कि वे सभी की प्रशंसा के पात्र बन गये।

इस अधिवेशन में खिलाफत आन्दोलन की सहायता करने का प्रस्ताव पारित हुआ। सच पूछा जाये तो मुसलमानों के सहयोग को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की गांधी जी की नीति डॉक्टर साहब को मान्य नहीं थी। अपनी बात उन्होंने गांधी जी तक पहुंचायी भी।

डाक्टर साहब 'सम्पूर्ण स्वतंत्रता' शब्दों के प्रयोग का अत्यधिक आग्रह करते थे उन्होंने प्रयत्नपूर्वक यह प्रस्ताव भी स्वागत-समिति से पारित करवाकर विषय-समिति के पास भिजवाया था कि ''हिन्दुस्थान में लोकतन्त्र की स्थापना कर पूँजीवादी राष्ट्रों के चंगुल से देश को मुक्त कराना ही कांग्रेस का ध्येय है।'' किन्तु तत्कालीन कांग्रेस के नेताओं को विचारों की इतनी ऊँची छलांग रास नहीं आयी। अत: ये दोनों ही सुझाव रद्दी की टोकरी में डाल दिये गये।

बचाव का भाषण अधिक राजद्रोहात्मक

डाक्टर साहब का यह मत था कि यदि किसी संस्था में काम करने का निश्चय किया है तो मतभेदों के होते हुए भी उस संस्था के निर्णयों को सिर आंखों पर स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने इसका पालन किया। गांधी जी के नेतृत्त्व में कांग्रेस ने 'खिलाफत' के समर्थन में असहयोग आन्दोलन की घोषणा की। डाक्टर साहब यह नहीं मानते थे कि इस आन्दोलन से स्वराज्य निकट आयेगा या देश को और कोई विशेष लाभ होगा। फिर भी यह सोचकर कि इससे देश में जागृति निर्माण करने का कम से कम एक अवसर तो मिलेगा, वे आन्दोलन में कूद पड़े और तूफानी दौरा कर अपने उग्र भाषणों से उन्होंने विदर्भ के ग्रामीण भाग में हलचल मचा दी।

इन भाषणों के कारण उन पर राजद्रोह का मुकदमा दायर किया गया। गांधी जी का मत था कि आन्दोलन में जिन पर मुकदमें चलाये जायें वे अपना बचाव न कर सजा स्वीकार कर लें। किंतु डाक्टर साहब ने अदालत के मंच को भी राष्ट्रीय विचारों के प्रचार का माध्यम बनाने हेतु मुकद्दमा लड़ा और सरकारी रिपोर्टरों के होश ठिकाने लगा दिये। अदालत में दी गयी उनकी सफाई उग्र देशभक्ति से इतनी सराबोर और इतनी तीखी भाषा में थी कि न्यायाधीश को भी कहना पड़ा कि उनका ''बचाव का भाषण मूल भाषण से भी अधिक राजद्रोहात्मक है।'' डाक्टर साहब को एक वर्ष के सश्रम कारावास की सजा हुई जिसे उन्होंने प्रसन्नता से काटा।

विचार मंथन

एक वर्ष बाद जब वे कारागार से छूटे, तब स्थान-स्थान पर जनता ने उनका भारी स्वागत किया। किन्तु ऐसे स्वागतों में रम जाने वाले या आन्दोलन ठंडा हो जाने पर निराश हो जाने वाले लोगों में वे नहीं थे। स्वतंत्रता आन्दोलन में उन्हें अब तक जो अनुभव मिले थे उनसे मन में अनेक प्रकार के प्रश्न चक्कर काटने लगे थे। उन्हें लगने लगा था कि कोई अन्य मार्ग खोजा जाना चाहिए। खिलाफत आन्दोलन की जड़ में मट्ठा तो तुर्कस्थान में कमालपाशा के तरुण तुर्कों ने डाल दिया था, किन्तु भारत के मुसलमानों ने उस आन्दोलन की असफलता के लिए हिन्दुओं को ही दोषी ठहराया। उन्होंने स्थान-स्थान पर हिन्दुओं पर आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया। इससे डाक्टर साहब के मन में विचारों की आंधी और तेज हो गयी। विशेषत: मलाबार में मोपलों के उपद्रव और उनके द्वारा हिन्दुओं पर किये गये अकथनीय पाशविक अत्याचारों ने डॉक्टर जी को झकझोर दिया और उन्हें बहुत कुछ नये ढंग से विचार करने के लिए विवश कर दिया।

कारागार से मुक्त होकर जब वे नागपुर के सार्वजनिक जीवन में पुन: उतरे तब मुसलमानों की दादागिरी स्थान-स्थान पर दिखाई दे रही थी। हिन्दुओं के जुलूसों को मस्जिदों के सामने रोके जाने की घटनाएँ नित्य घट रही थीं और उसके कारण वातावरण में तनाव फैला हुआ था। डॉक्टर साहब ने हिन्दू समाज में जागृति उत्पन्न कर राजे लक्ष्मणराव भौंसले के सहयोग से प्रचंड 'दिंडी सत्याग्रह' का अयोजन करवाया। उस सत्याग्रह का बड़ा बोलबाला हुआ और वह सफल हुआ। दिंडी सत्याग्रह में शोभायात्रा के साथ झांकी, भजनमंडली आदि का समावेश होता था।

लगभग इन्हीं दिनों में डाक्टर साहब हिन्दू महासभा के काम में जुटे। यद्यपि १९२२ से १९२५ तक के तीन वर्षों में डाक्टर साहब सार्वजनिक कार्यों में पूरे जोर-शोर से भाग लेते रहे, किंतु उनका मन अपने जीवनकार्य की खोज में लगा हुआ था। वह काल उनके गहरे विचार-मंथन का काल कहा जा सकता है। तरुणों के साथ उनका सम्पर्क बढ़ रहा था, इतिहास का आलोडन हो रहा था। इस मंथन में से अमृत प्रकट हुआ। उन्हें भावी मार्ग के दर्शन हुए। अब उनका असमंजस समाप्त हो चुका था। संघ स्थापना का विचार मन में पक्का हो गया।

नयी डगर मिल गयी

'संघ की स्थापना' इन तीन शब्दों में डाक्टर जी के चिंतन का सार समाया हुआ था। संघ यानि हिन्दुओं की संगठित शक्ति। हिन्दुओं की संगठित शक्ति इसलिए कि हिन्दू ही इस देश के भाग्य निर्माता हैं। वे इसके स्वाभाविक स्वामी हैं। उनका ही यह देश है और उन पर ही इस देश का उत्थान और पतन निर्भर है। इतिहास का निष्कर्ष है कि यह

हिन्दू राष्ट्र है। तत्कालीन परिस्थिति का भी वही संकेत था। वे इस व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहुंचे कि यदि अलगाववाद पर चलने वाले मुस्लिम कट्टरपंथियों तथा उनको उकसाने वाले अंग्रेजों का सफलतापूर्वक सामना करना है तो उसका एकमात्र उपाय यह है कि यहां के वास्तविक राष्ट्रीय समाज याने हिन्दू समाज को संगठित किया जाये।

हिन्दू राष्ट्र के सिद्धान्त को डाक्टर साहब ने संघ का आधारभूत सिद्धान्त बनाया। उसे व्यवहार में उतारने का उन्होंने बीड़ा उठाया। केवल सिद्धान्त का सही होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे दुनिया से मनवाना हो तो उसके पीछे प्रबल शक्ति खड़ी करनी पड़ती है। शक्ति संगठन में होती है। अत: हिन्दुओं की ऐसी अजेय शक्ति खड़ी करना उनके जीवन का एकमेव कार्य बन गया जिससे हिन्दू समाज और उसके देश हिन्दुस्थान की ओर टेढ़ी नजर से देखने का भी किसी को साहस न हो। उनकी दृष्टि से समस्त समस्याओं को सुलझाने का एकमेव मार्ग भी यही था। किन्तु अन्तिम ध्येय तक पहुंचने के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता अनिवार्य थी। वह इस मार्ग का पहला और महत्त्वपूर्ण पड़ाव था।

अनोखा तन्त्र

डाक्टर साहब जिन दिनों अपना जीवनकार्य तय कर रहे थे, उन दिनों हिन्दू राष्ट्र का विचार वायुमण्डल में पहले से ही विद्यमान था। स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने १९२२ में ही 'हिन्दुत्व' नामक खोजपूर्ण पुस्तक की रचना की थी। उसके पहले स्वामी विवेकानंद से लेकर अन्य अनेक लोगों को भी राष्ट्र के संबंध में यही विचार मान्य था। संगठन की बात भी नयी नहीं थी। किन्तु प्रत्यक्ष में किसी ने संगठन के कार्य को हाथ में नहीं लिया था। यह भी स्पष्ट कल्पना किसी के पास नहीं थी कि संगठन कहते किसे हैं। और वह कैसे खड़ा किया जाता है। डाक्टर साहब विविध आन्दोलनों, सभा-सम्मेलनों, मंडलों, युवा-संगठनों का प्रत्यक्ष अनुभव लेते हुए अखण्ड चिन्तन कर रहे थे कि विशुद्ध देशभक्ति से प्रेरित, व्यक्तिगत अहंकार से मुक्त, अनुशासित और चरित्रवान लोगों का निर्माण करने का कार्य कोई नहीं कर रहा, उसके लिए कोई व्यवस्था ही नहीं है। इसलिए लहरें समय-समय पर उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। असहयोग आन्दोलन में भाग लिये हुए ऐसे अनेक लोगों को उन्होंने देखा था जो देश, समाज स्वतंत्रता आदि सब भूलकर अपना स्वार्थ साधने के पीछे लग गये थे।

इसलिए सार्वजनिक कार्य करने के जो तरीके उन दिनों प्रचलित थे और स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जिस प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे थे, उनसे अलग हटकर उन्होंने अपनी प्रतिभा से 'शाखा' की एक नयी पद्धति निकाली। अनुशासनपूर्वक नित्य चलायी जा सकने वाली इस पद्धति में स्थायी संस्कार देने की क्षमता थी। इस पद्धति की मुख्य बात यह थी कि नियमित रूप से कुछ समय देने की लोगों को आदत डाली जाये और धीरे-धीरे राष्ट्र के उत्थान के लिए ऐसे कार्य का जाल देश भर में फैलाना डाक्टर

साहब को आवश्यक लगा और उन्होंने मन ही मन ऐसा करने की ठान ली।

संघ का बीजारोपण

संगठन की अपनी यह कल्पना उन्होंने अनेकों को बतायी और उस पर उनसे चर्चा भी की। किन्तु उन दिनों के बड़ी आयु के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को वह ठीक से समझ में नहीं आयी। अंत में मुट्ठी भर तरुणों की एक बैठक बुलाकर डाक्टर साहब ने घोषणा कर दी कि ''हम संघ की स्थापना कर रहे हैं।'' वह कलियुगाब्द ५०२७ अर्थात् सन् १९२५ की विजयदशमी का पवित्र दिन था। इस पहली बैठक में संघ स्थापना की घोषणा अवश्य हुई, किन्तु उनके नाम में न तो 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हुआ था और न ही 'स्वयंसेवक' शब्द का। फिर भी, ऐतिहासिक महत्त्व की बात यह कि उस दिन संघ कार्य का बीज बोया गया। लम्बे चिन्तन के पश्चात् उन्होंने अपने जीवन कार्य का शुभारंभ पुरुषार्थ की प्रेरणा देने वाले उस राष्ट्रीय पर्व पर किया। उस समय डॉक्टर साहब की उमर मात्र ३६ साल थी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आज हमें शाखाओं-उपशाखाओं से युक्त एक विशाल वटवृक्ष के रूप में दिखाई दे रहा है। किन्तु हम शायद यह नहीं जानते कि उसका आरंभ कैसे हुआ। सोचने पर यही भाव मन में आता है कि डॉक्टर साहब ने तो चमत्कार ही कर डाला। एक बिल्कुल सामान्य सा दिखने वाला आदमी खड़ा होता है और घोषणा करता है कि ''भारत हिन्दू राष्ट्र है।'' और उसकी स्वतंत्रता व चिरन्तन सामर्थ्य के लिए हिन्दुओं का राष्ट्रव्यापी संगठन खड़ा करने का संकल्प लेना है। उसके पास न पैसा है, न कोई साधन, पीछे न कोई बड़ा नेता है और न हिन्दू राष्ट्र के विचार को जनता में मान्यता ही है। उल्टे, परिस्थिति पूरी तरह विपरीत है। हिन्दू समाज अनेक जाति, पंथ, भाषा और प्रान्तों में विभाजित होने के कारण दीर्घकाल से गुलामी में रहता आ रहा था। यह बात अच्छे भले लोगों तक के गले नहीं उतर रही थी कि परायों की भेदनीति से प्रभावित यह समाज हिन्दू के नाम पर कभी संगठित भी हो सकता है। हिन्दू राष्ट्र की बात समझना तो दूर, वैसा बोलना भी निरा पागलपन माना जाता था। ऐसी विपरीत परिस्थिति में डॉक्टर साहब हिन्दू राष्ट्र का साक्षात्कार कर दृढ़तापूर्वक आत्मविश्वास के साथ खड़े हुए और संगठन की अपनी कल्पना को उन्होंने साकार कर दिखाया। संस्कृत में कहावत है – ''क्रियासिद्धि : सत्व भवति महतां नोपकरणे'', अर्थात् बड़े लोगों की सफलता उनके सत्व पर निर्भर हुआ करती है, साधनों पर नहीं। इस कहावत को उन्होंने सत्य सिद्ध कर दिखाया।

✍ मातृ शक्ति

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई

वासुदेव शर्मा

भारत भूमि का सौभाग्य था कि लक्ष्मीबाई जैसा देदीप्यमान रत्न इस धरती पर प्रकट हुआ। भारत के स्वतन्त्रता समर की चर्चा चलने पर झांसी की रानी का नाम सर्वोपरि रहेगा। महाराष्ट्र में सतारा के पास बाई नामक गांव में कृष्णराव तांबे, बाजीराव पेशवा की सेना में उच्चपदाधिकारी थे। उनके दो पुत्र मोरोपंत और सदाशिव थे।

पिता मोरोपन्त तथा माता भागीरथी के घर कलियुगाब्द ४९३७ (१९ नवम्बर, १८३५) को काशी (बनारस) में एक कन्या का जन्म हुआ। इनका मनिकर्णिका नाम रखा गया। लेकिन सभी प्यार से उन्हें मनु कहकर पुकारते थे। चार वर्ष की अल्पायु में ही उनकी माता का देहांत हो गया। अब मनु के लालन-पालन का सारा भार पिता मोरोपन्त पर ही आ पड़ा। बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहब तथा नाना साहब के छोटे भाई राव साहब के साथ उनकी शिक्षा दीक्षा होने लगी। बाजीराव को मनु की सुन्दरता तथा चपलता बहुत भाने लगी तो वे प्यार से उसे 'छबीली' कहने लगे।

मनु बचपन से ही हठीली, साहसी, निर्भीक, चपल, कुशाग्र बुद्धि, दृढ़निश्चयी तथा महत्त्वाकांक्षी प्रवृत्ति की बालिका थी। लड़कों के साथ रहने से उसमें पुरुषोचित गुणों का विकास हुआ। वह नाना और राव साहब के साथ मलखम्भ, कुश्ती, तलवार तथा बन्दूक चलाने के साथ-साथ तैराकी तथा घुड़सवारी आदि में भी हिस्सा लेती थी। पिता से पौराणिक आख्यान सुनकर मनु के मन में वीरता तथा देशभक्ति के भाव बचपन में ही अंकुरित हो गए थे। एक बार नाना के साथ घुड़सवारी करते दोनों घोड़े से नीचे गिर गये, तो मनु ने अपनी चोट की परवाह न कर नाना के घाव पर पट्टी की और उसे अपने घोड़े पर बिठाकर महल ले आई। यह देखकर मोरोपन्त ने नाना की चोट पर चिन्ता जताई तो मनु ने सहज रूप से कह दिया ***इतनी छोटी सी चोट पर इतनी घबराहट! तो क्या युद्ध रेशम की डोरियों और कपास की पौनियों से हुआ करते थे।***

अगले ही दिन जब नाना हाथी पर बैठकर घूमने गये तो मनु ने भी हाथी की सवारी की जिद्द की, इस पर पिता मोरोपन्त ने समझाया कि बेटी तेरे भाग्य में हाथी की सवारी नहीं है। मनु यह सुनकर भड़क उठी और बोली मेरे भाग्य में एक नहीं अनेक हाथी हैं।

कलियुगाब्द ४९५० (सन् १८४८) में १३ वर्ष की आयु में झांसी के राजा गंगाधर राव से मनु का विवाह हुआ और इस तरह गरीब ब्राह्मण की बेटी मनु, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई बन गई। राजा गंगाधर राव भी अन्य राजाओं की तरह राग-रंग में व्यस्त रहते थे। अंग्रेजों की कूटनीति की ओर उनका ध्यान न था। रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी सेविकाओं तथा सम्पर्क में आने वाली महिलाओं को तलवारबाजी, तीरंदाजी तथा घुड़सवारी के प्रशिक्षण की

व्यवस्था कर दी थी। झांसी के गणेश मंदिर में होने वाले महिलाओं के हल्दी कुंकुम उत्सव में प्रमुख घरानों की महिलाएं रानी को जुहार करने आती थी। इस उत्सव के माध्यम से सुन्दर-मुंदर, जूही, झलकारी बाई, काशीबाई आदि युवतियाँ रानी की सहेलियाँ बन गई। रानी ने इन्हें सभी तरह के सैन्य प्रशिक्षण दिए। आगे चलकर इन्होंने अंग्रेजों के साथ युद्ध में अदम्य साहस का परिचय दिया।

तीन वर्ष पश्चात् रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। दुर्भाग्य से बच्चा तीन माह में ही भगवान को प्यारा हो गया। राजा गंगाधर राव ने संतान प्राप्ति की लालसा से ही दूसरी शादी की थी। लेकिन बच्चे के निधन से वृद्ध राजा यह आघात न सह सके ओर बीमार पड़ गये। कलियुगाब्द ४९५५(सन् १८५३) में उन्होंने अपने कुल के ही एक बालक गोविन्द राव को गोद लेकर उसका दामोदर राव नाम रखा। कुछ समय पश्चात् राजा गंगाधर राव चल बसे। राजा की मृत्यु के पश्चात् अंग्रेजी हुकूमत ने दामोदर राव को उनका पुत्र मानने से इन्कार कर दिया और कलियुगाब्द ४९५६ सन् १८५४ में झांसी को अंग्रेजी राज्य में मिला दिया गया। मेजर एलिस ने झांसी के राजकोष पर सील लगवा दी। रानी को ५००० रुपये मासिक पेंशन लगाकर, राजमहल और किला खाली करने के आदेश दिए गये।

रानी ने खून का घूंट पीकर यह निर्णय स्वीकार कर लिया और पुत्र के साथ राजमहल छोड़कर साधारण मकान में रहने लगी, परन्तु अन्दर ही अन्दर भीषण प्रतिशोध के लिए गतिविधियाँ जारी रखीं। सेना की भर्ती, गुप्तचर विभाग की स्थापना, स्त्री सेना का प्रशिक्षण, रणक्षेत्र का भौगोलिक ज्ञान तथा शस्त्रास्त्र एवं बारूद आदि युद्ध सामग्री बनाने और उनके संग्रह का काम गुप्त रूप से चलता रहा। उन्होंने घोषणा की कि मैं अपनी झांसी नहीं दूँगी।

रानी ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लंदन तक लड़ाई लड़ी, लेकिन न्याय नहीं मिला। आखिर रानी ने अपने विश्वासपात्र सैनिकों के समक्ष प्रण किया और कहा मैं चैन से नहीं बैठूंगी, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न चले जाएं। रानी की इस प्रतिज्ञा से अंग्रेज सतर्क हो गये और रानी के वफादार सैनिकों को चुन-चुन कर सेना से बाहर निकाल दिया।

ब्रिटिश सेना के हिन्दू और मुसलमान सैनिकों में भी रोष व्याप्त हो चुका था। आस-पास क्या घट रहा है, इसकी पल-पल की सूचनाएँ गुप्तचरों के माध्यम से रानी तक पहुंच रही थी। रानी और तांत्य टोपे ने मंत्रणा की और परिस्थितियों का जायजा लेकर भावी रणनीति बनाई। कलियुगाब्द ४९५९, सन् १८५७ के महासंग्राम का बिगुल बज चुका था। सभी राजा, महाराजा, पेशवा, नवाब, सैनिक हिन्दू-मुसलमान, मौलवी तथा पुरोहित महासंग्राम में कूद चुके थे। महिलाओं का इस संग्राम में विशेष योगदान रहा। लगभग २० दिनों तक रक्तपात, लूट-पाट का ताण्डव चलता रहा। दुर्भाग्य से इस महासंग्राम का कोई एक निश्चित कमाण्डर नहीं था, फलस्वरूप अंग्रेज कामयाब हुए और देशभक्त या तो मातृभूमि के काम आये या अंधेरी कोठरी में अत्याचार सहने के लिए फैंक दिए गये। रानी ने १० माह के भीतर फिर से झांसी पर कब्जा कर लिया। कुछ ही समय पश्चात् गंगाधर राव के एक संबंधी ने झांसी पर हमला बोल दिया, रानी ने उसे बाहर खदेड़ा ही था कि ओरछा के दीवान नत्थेखां ने बीस हजार सैनिकों से झांसी पर हमला बोल दिया, शीघ्र ही नत्थेखां को अपनी मूर्खता का एहसास हुआ और जान बचाकर वापिस भाग गया तथा अंग्रेज सेना से जा मिला।

लक्ष्मीबाई अपने स्वराज्य संघर्ष में जुटी रहीं। तांत्या और नाना साहेब से विचार विमर्श चलता रहा। शस्त्रास्त्र बनाए जाने लगे। पुराने शस्त्रों को फिर से धार दी जाने लगी। सारी झांसी युद्ध की तैयारियों में जुट गई। रानी ने अपनी तोपों की गर्जना, भवानी शंकर और चमकती बिजली आदि नाम रखे थे। इन्हें उपयुक्त स्थानों पर स्थापित किया जा चुका था। कलियुगाब्द ४९६० (२३ मार्च, १८५८) को जनरल ह्युरोज भारी सेना लेकर झांसी की ओर बढ़ने लगा और उसने युद्ध की घोषणा कर दी। उसने झांसी के किले को चारों ओर से घेर लिया। उसकी सेना के तोपखाने ने किले की दिवारों को हिलाकर रख दिया। झांसी के अनेक बहादुर सरदार वीरगति को प्राप्त हो रहे थे। अंग्रेज सैनिक किले में अन्दर दाखिल न हो सके तो उन्होंने नगर में घुसकर मारकाट और लूटपाट मचाकर आतंक फैलाया।

प्रजा के कष्टों से दु:खी होकर रानी ने तांत्या टोपे को सहायता के लिए बुलाया लेकिन वे समय पर नहीं पहुंच सके, क्योंकि अंग्रेज सेना ने उन्हें रास्ते में ही रोके रखा। लड़ाई अंग्रेजों के पक्ष में जा रही थी। कई मोर्चे टूटने लगे, रानी उन्हें किसी प्रकार सम्भाल रही थी। ह्युरोज की तोपें आग बरसा रही थीं। इधर रानी की तोपें भी मुंहतोड़ जबाव दे रही थी। लेकिन दुर्भाग्य की युद्ध सिर्फ आमने-सामने सेनाओं का ही नहीं था बल्कि घर के अन्दर बैठे शातिर विश्वासघातियों से भी था। ऐसे ही एक गद्दार दुल्हाजू ने गुप्त बारूदखाने की खबर अंग्रेज जनरल को दे दी। फिर क्या था विरोधी सेना की तोपों के गोले सीधे बारूदखाने पर गिरने लगे। रानी के विश्वासपात्र बहादुर सैनिक खुदाबख्श, गुलाम गौसखां और रानी की महिला सेना प्रमुख सुन्दर-मुन्दर, मोतीबाई, जूही तथा झलकारी बाई जैसी साहसी वीरांगनाएँ वीरगति को प्राप्त हो गईं।

लक्ष्मीबाई जीते जी झांसी नहीं छोड़ना चाहती थी। उन्होंने अपने सैनिकों से कह भी दिया था। आप लोग अपनी रक्षा के लिए जहां चाहे जा सकते हैं, ***मैं अपनी झांसी जीते जी नहीं छोडूँगी***। रानी चारों ओर से अंग्रेज सेना से बुरी तरह घिर गई थी। पराजय निश्चित दिखाई दे रही थी। तब सैनिकों और विश्वासपात्रों की गुहार से रानी ने ४०० सैनिकों सहित काल्पी की ओर कूच करना मान लिया। वहां का किला सुरक्षित तथा सैन्य सामग्री से भरपूर था। समय की मांग को समझते हुए रानी ने पुत्र दामोदर को पीठ पर बांधकर, घोड़े पर सवार होकर, दांतों में घोड़े की लगाम दबाई और दोनों हाथों में चमचमाती तलवारें धारण कर सिपाहियों की भीड़ को चीरती हुई रात्रि के समय किले से बाहर निकल काल्पी पहुंच गई। वॉकर नामक एक अंग्रेज लैफ्टिनेंट कुछ सैनिकों के साथ रानी के सामने पड़ा लेकिन रानी के एक ही वार से बाकर का काम तमाम हो गया। पेशवाओं के नेतृत्त्व में आस-पास के कुछ राजा संगठित होने लगे थे। जनरल ह्युरोज भी रानी का पीछा करते हुए काल्पी की ओर बढ़ रहा था। कोंच नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का आमना-सामना हुआ, संगठित राजाओं की हार हुई। रानी ने काल्पी छोड़ ग्वालियर की ओर रुख किया। ग्वालियर से ४६ मील दूर गोपालपुर में राव साहेब, तांत्या और बान्दा के नवाब ने रानी से मन्त्रणा की जिसमें रानी ने स्पष्ट किया कि ग्वालियर के राजा का झुकाव अंग्रेज सरकार की तरफ है, लेकिन सेना और जनता अंग्रेजों के विरुद्ध है। उन्होंने महाराजा सिंधिया से सहयोग की बात कही परन्तु सुविधा भोगी राजा सहमत न हुए और अंग्रेजों से जा मिला। रानी ने ग्वालियर के तोपखाने पर हल्ला बोल दिया तो राजा भाग खड़ा

हुआ।

कलियुगाब्द ४९६०, सन् १७ जून, १८५८ का दिन जनरल ह्युरोज ने अपनी अनुशासित और संगठित सेना से ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। रानी की लालकुर्ती सेना ने अंग्रेजी सेना को नाकों चने चबाने पर मजबूर कर दिया। दिन भर भीषण युद्ध चलता रहा। अंग्रेज सैन्य युद्ध के साथ-साथ कूटनीतिक युद्ध भी लड़ रहे थे।

कलियुगाब्द ४९६० (१८ जून, १८५८) सूर्योदय के पश्चात् रानी ने रामचन्द्रराव देशमुख को बुलाकर कहा कि आज युद्ध का अंतिम दिन दिखाई देता है, यदि मेरी मृत्यु हो गई तो मेरे पुत्र दामोदर के जीवन को अमूल्य समझ कर इसकी देख-भाल की जाए। एक और संदेश था कि इस बात का ध्यान रखा जाए कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरा शव उन लोगों के हाथ न पड़े जो मेरे धर्म के नहीं हैं। इस समय तक लक्ष्मीबाई ग्वालियर के किले में थी, किले को अंग्रेज सेना ने चारों ओर से घेर रखा था। सेनापति स्मिथ रानी को जिंदा या मुर्दा पकड़ने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था। रानी अपने शेष बचे सैनिकों के साथ साक्षात् चण्डी बन शत्रुओं को चीरती हुई किले से बाहर निकल कर, शत्रुओं को धराशायी करती हुई आगे बढ़ती गई।

दोनों ओर से गोलीबारी हो रही थी। एक गोली रानी की टांग में लग चुकी थी, तो भी रानी घोड़ा दौड़ाती चली जा रही थी। अचानक सामने एक नाला आ गया। घोड़ा भी नया था, नाले पर अड़ गया। इतने में शत्रु सेना के सैनिक के वार से रानी के चेहरे का एक हिस्सा कट गया। घोड़े से लुढ़कते हुए भी रानी ने अपनी तलवार से शत्रु के दो टुकड़े कर दिए। इस प्रहार से रानी घोड़े से नीचे गिर गई। जांबाज अंगरक्षक रानी को बाबा गंगादास की कुटिया में ले गए। बाबा ने रानी को गंगाजल पिलाया और रानी ने अंतिम सांस लेते हुए हर-हर महादेव शब्दों के साथ गीता का श्लोक बुदबुदाया और वासुदेव मैं आपके सामने नतमस्तक हूँ, झांसी को अनाथ न होने देना यह कहते हुए प्राण त्याग दिए। रानी की अंतिम इच्छा के अनुरूप लकड़ियाँ इकट्ठी कर झोंपड़ी में ही चिता बनाकर रानी के पार्थिव शरीर को अग्नि की भेंट कर दिया गया। कुटिया में बिखरे पड़े खून को देशमुख ने पानी से धोकर साफ कर दिया। रानी के शव की राख को भी अंग्रेज हाथ न लगा सके। अतः गुल मोहम्मद ने रात ही रात में उस स्थान पर चबूतरा बना दिया। अगले दिन अंग्रेज सैनिक रानी की खोज करते हुए वहां पहुंचे और चबूतरा देखकर पूछा-किस का मजार है यह? गुल मोहम्मद ने श्रद्धापूर्वक कहा—हमारे पीर का! बहुत बड़ा बलि था।

वीर सावरकर ने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के बारे में कहा है — सर्वगुण सम्पन्न २३ साल की फूल सी नाजुक, रूआबदार, शुद्ध चारित्र्य, कुशल संगठन कर्त्री, युद्ध कला प्रवीण, ऐसी महारानी लक्ष्मीबाई इस देश में हुई, यह देश का अतीव सौभाग्य था। बाबा गंगादास की कुटिया में जली चिता की ज्वाला १८५७ के ज्वालामुखी से निकली सबसे तेज ज्वाला थी।

सहायक सम्पादक 'विपाशा'
भाषा एवं संस्कृति विभाग, शिमला—९

नामकरण की पौराणिक पद्धतियां

श्रीराम शंकर भट्टाचार्य

किसी भी तीर्थ, नदी, नगर, पर्वत तथा जनपद आदि का नामकरण कैसे होता है, यह एक अध्येतव्य विषय है। 'नामकरण' यह शब्द ही बताता है कि भौगोलिक पदार्थों का नाम दिया जाता है, वे चिरकाल से स्वत: चले नहीं आते। हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि भौगोलिक प्रमेय (तीर्थ, जनपद, पर्वत, नदी आदि) के नाम किसी-न-किसी कारण से ही पड़े हैं, यह नहीं कि निष्कारण ही उन नामों का प्रचलन हुआ है। पर्वतादि के वाचक शब्द 'संज्ञा' कहलाते हैं, और 'संज्ञा' के विषय में पूर्वाचार्यों की यह मान्यता थी कि संज्ञा 'किसी व्यक्ति के द्वारा किसी हेतु के ही दी जाती थी।'

प्रस्तुत प्रकरण में हम पुराणीय साक्ष्य के अनुसार उन कारणों के निदर्शन प्रस्तुत करेंगे, जिसके लिए किसी भौगोलिक प्रमेय का नाम पड़ा है। हम केवल पौराणिक विवरण ही यहां उद्धृत करेंगे।

विशिष्ट-वस्तु-हेतुक नाम : यह देखा जाता है कि किसी स्थान विशेष का नाम उस संस्थान के किसी विलक्षण पदार्थ के नाम के अनुसार पड़ जाता है। आज भी यह पद्धति समान रूप से प्रचलित है। पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि किसी समय पृथ्वी के विभाग के जो सात द्वीप थे, उनका नामकरण इसी नियम के अनुसार हुआ था। यथा –

पृथिवी के सात द्वीप हैं – जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, पुष्कर तथा शाक। इन द्वीपों के नामकरण के विषय में प्रत्येक पुराण के भुवनकोश में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन द्वीपों में जम्बू, पल्क्ष आदि के नाम से महान सात वृक्ष हैं, जिनके अनुसार ये सात नाम पड़े हैं। सभी पुराणों में यह बात समान रूप से लिखी है, अत: यहां किसी का उद्धरण नहीं दिया जा रहा है। व्यक्ति भुवनकोश अंश का अध्ययन कर इसकी सत्यता स्वयं जान सकते हैं।

इस पद्धति का अन्य उदाहरण 'अविमुक्त' शब्द भी है। कूर्मपुराण कहता है – ''श्मशानमेतद् विख्यातम् अविमुक्तं ततः स्मृतम्'' (१ / ३१ / २७ तथा अन्यत्र भी)। काशी में 'अविमुक्त' एक श्मशान का नाम है जिसके कारण काशी का नाम भी 'अविमुक्त पड़ गया है। इस देश में जितने तीर्थ हैं, उनमें अधिकांश तीर्थों के नाम तीर्थस्थ लिंग के नाम के अनुसार ही हैं, यह सुप्रमाणित है अविमुक्त नाम का अन्य हेतु भी है, जैसा आगे दिखाया जाएगा।

विशिष्ट घटना हेतुक नाम : यह देखा जाता है कि किसी स्थान में कभी कोई विशिष्ट घटना संघटित होती है और उस काल से उस घटना के अनुसार उस स्थान का कोई नाम नहीं था

तो घटना संवलित वह नाम ही प्रसिद्ध हो जाता है और यदि कोई पूर्वनाम रहा हो, तो भी इस प्रसिद्धतर नूतन नाम के कारण प्राक्तन नाम गौण पड़ जाता है और कभी–कभी वह नाम परवर्ती काल में लुप्त भी हो जाता है। पुराणों में ऐसा स्पष्ट संकेत मिलता है कि किसी स्थान का पहले एक नाम था और बाद में दूसरा नाम हो गया, जैसे द्वारका के विषय में कहा गया है – ''पुरीं द्वारावतीं नाम साम्प्रतं या कुशस्थली'' (मत्स्य. ६९/९) या ''कुशस्थली या ह्यमरावतीव, सा द्वारका सम्प्रति तत्र चास्ते'' (विष्णु. ४/१/२०) इत्यादि। विशिष्ट-घटना हेतुक नामकरण के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण ये हैं :–

प्रसिद्ध नैमिषक्षेत्र के नामकरण के विषय में कहा गया है– ''भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत, कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्'' (वायु. २/८)। यह मत कूर्मपुराण में भी मिलता है, यथा ''तस्य वै ब्रजत: क्षिप्रं यत्र नेमिरशीर्यत, नैमिषं तत् स्मृतं नाम्ना' (२/४३/९)। इन दोनों वाक्यों में यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि चक्र की नेमि टूटने से ही नैमिष नाम पड़ गया। इस विषय पर अन्य मत भी हैं, जिनकी चर्चा यहां अप्रासंगिक है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। सरस्वती के विनाशस्थान का नाम 'विनशन' पड़ गया, यह तो महाभारत में स्पष्ट उल्लिखित है (शल्य. ३८/१)। उसी प्रकार 'बहुदा नदी' के विषय में भी बाहु दान करने की एक कथा का उल्लेख पुराणों में मिलता है, जिसका विवक्षित तात्पर्य हम नहीं समझ पाए हैं।

कपालमोचन तीर्थ भी इस पद्धति का प्रसिद्ध उदाहरण है। वामन. (३/४८/५१) तथा कूर्म. (२/३१ अ.) आदि में इस नाम की उत्पत्ति के लिये शिवसम्बन्धी एक कथा मिलती है। यह पद्धति भौगोलिक दृष्टि से उपादेय तो नहीं है, पर इसका कुछ-न-कुछ तो तात्पर्य होगा, यह निश्चित है। अधिकारी विद्वानों को ऐसी कथाओं के अभिप्राय पर विचार करना चाहिए।

विशिष्ट घटना के कारण नया नाम पड़ जाता है, इस तथ्य का दूसरा उदाहरण 'रैवतक पर्वत' भी है। पहले इस पर्वत का नाम कुमुद था। इस पर रेवती नक्षत्र का पतन हुआ था, और इसीलिये इसका नाम रैवतक पड़ गया, यह मार्कण्डेय पुराण में स्पष्ट वर्णित है (७५/२१–२३)।

विशिष्ट गुण हेतुक नाम– जैसे विशिष्ट घटना से स्थान आदि का नाम पड़ता है, वैसे उस स्थान आदि के किसी विशेष गुण के (सौन्दर्य, कला इत्यादि के) कारण भी नाम पड़ जाता है। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होगी:

द्वारिकापुरी के नामकरण के विषय में कहा गया है कि वह 'बहुद्वारा' (अनेक द्वारवाली) है (अग्नि. २७२/१५), और इसीलिये कभी-कभी 'द्वारावती शब्द प्रयुक्त होता है, तब भी उसका वहीं अर्थ है, और संज्ञा होने के कारण पाणिनि के 'शरादीनां च' (६/३/१२०) सूत्र से दीर्घ होता है।

इस पद्धति का दूसरा उदाहरण 'स्वर्णोदका नदी' है। इसके नामकरण के विषय में

लिंगपुराण में कहा गया है : ''यस्मात् सुवर्णान् नि:सृत्य नद्येषा सम्प्रवर्तते, स्वर्णोदकेतिता माह देवदेवस्त्रियम्बक:'' (लिंग १/४३/४६), अर्थात् इस नदी से चूंकि प्रचुर स्वर्ण निकलता है, इसलिये इसका नाम 'स्वर्णोदका' है।

इस पद्धति का अन्य उदाहरण 'अविमुक्त' (काशी) नाम है। पुराण में एक स्थान पर यह कहा गया है कि (पाप) से यह प्राणियों को मुक्त करता है, अत: इसका नाम 'अविमुक्त' है (लिंग १/९२/४३)

शासक या स्थापयिता के अनुसार नाम — पुराणों में इस पद्धति का सर्वाधिक व्यवहार है। जिस द्वीप, नगर, पुरी या वर्ष का जो शासक या आदि स्थापनाकारी है, उसके नाम के अनुसार प्राय: उस स्थान का भी नाम पड़ गया है। (इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि कभी-कभी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि अमुक शासक नाम के अनुसार है, पर जब हम स्थान के नाम को शासक के नाम के अनुसार ही देखते हैं, तब हम यह निश्चित रूप से जान जाते हैं कि वस्तुत: यहां का नामकरण उपर्युक्त पद्धति के अनुसार ही हुआ है)। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी —

पूर्वभारत में पाँच प्रसिद्ध जनपद थे — अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, कलिङ्ग तथा पुण्ड्र। वायु. (९९ अ.) मत्स्य. (४८ अ.) विष्णु. तथा अन्यान्य पुराणों में भी यह स्पष्ट लिखा है कि इन पाँच जनपदों (कहीं-कहीं विषय) के नाम बलि के पाँच पुत्रों (जिनके भी यही नाम हैं के अनुसार हैं, जो इन पाँच स्थानों के शासक थे।

इस पद्धति का दूसरा उदाहरण जम्बू आदि सात द्वीपों के वर्षों के नामकरण में भी मिलता है। प्रत्येक द्वीप के वर्षों का नामकरण उनके शासकों के अनुसार ही किया गया है, यह प्रत्येक पुराण के भुवनकोश में स्पष्ट लिखा हुआ है।

अन्य उदाहरण भी लीजिए। श्रावस्तीपुरी का नाम उनके राजा श्रावस्त या श्रावस्ति के नाम के अनुसार, तक्षशिलापुरी तक्षनृपति के अनुसार और पुष्करावतीपुरी पुष्करनृपति के अनुसार है (वायु० ८८।१९०)। हस्ती नामक राजा ने 'हस्तिनापुर' बसाया (विष्णु० ४। १९।२०), वैशाली भी राजा तृणबिणु के पुत्र विशाल के नाम के अनुसार ही है (विष्णु ४/१/१८), अङ्गदीयापुरी भी लक्ष्मण पुत्र अङ्गद के नाम के अनुसार है (वायु० ८८। १८७—१८८) इत्यादि।

कभी-कभी शासक के नामों के अनुसार न होकर शासकसम्बन्धित अन्य गुण के अनुसार भी जनपदों का नाम किया जाता था। पाञ्चाल देश इसका प्रमुख उदाहरण है। इस नाम के विषय में विष्णुपुराण कहता है "ततो हर्यश्व:, तस्माद् मुद्गल-सृञ्जय-बृहदिषु-प्रवीर-काम्पिल्या: पञ्चानामेतेषां विषयाणां रक्षणाय अलम् एते मत्पुत्रा इति पित्राभिहिता अत: ते पाञ्चाला: (४।१९।५)। इन पांचाल क्षत्रियों के कारण इस स्थान का नाम भी पाञ्चाल पड़ा — यह ऐतिहासिक तथ्य है। अन्य पुराणों में भी इस ओर संकेत है (अग्नि० २७७।२०; मत्स्य० ५०।४ इत्यादि)।

उत्पत्तिस्थान के अनुसार नामकरण — यह पद्धति मुख्यत: नदी, सरोवर इत्यादि में ही दीख

पड़ती है। जिस पर्वत या स्थान से जो नद या नदी निकलती है, कभी-कभी उस उद्गम स्थान के नाम के अनुसार उसका नाम पड़ जाता है। यथा —

यमुना का एक नाम कालिन्दी है। पुराण कहता है — "यमुना च नदी जज्ञे कलिन्दान्तरवाहिनी" (मार्क० ७८।३०) और इस कलिन्द पर्वत से प्रवाहित होने के कारण ही यमुना का नाम कालिन्दी पड़ा, यह स्पष्ट है।

कभी-कभी यह उत्पत्तिस्थान वास्तव न होकर कल्पित भी माना गया है, जैसे जटोवदका नदी का उत्पत्तिस्थान शिव की जटा माना गया है (लिंग० १।४३।३५) और जम्बू नदी के उत्पत्तिस्थान को जाम्बूनदमय मुकुट कहा गया है (लिंग० १।४३।४७)।

एक सरोवर है, जिसका नाम 'अच्छोद' है। वायु० कहता है कि वह 'अच्छोदा नदी' से निकला है (७३।३)। यह स्पष्ट है कि यहां उद्गमस्थान के अनुसार ही सरोवर का नाम पड़ा है।

उद्गमस्थान के अनुसार विशेषण शब्द का भी प्रयोग होता है। जैसे गंगा के लिए हैमवती शब्द। हिमवत्—पर्वत से निकलने के कारण ही यह नाम है, यह निश्चित है। उत्पत्ति से सम्बन्धित पदार्थों के अनुसार भी नदी का नामकरण प्रसिद्ध है। गंगा का भगीरथी नाम इसका प्रमुख उदाहरण है। वायु० कहता है— भगीरथस्तु तां गङ्गाम् आनयामास कर्मभिः तस्माद् भागीरथो गङ्गा कथ्यते ब्रह्मवित्तमैः। (८८।१६९, द्र० मत्स्य० १२।१।४४)। भगीरथ से गंगा नहीं निकलीं, पर उनकी उत्पत्ति से भगीरथ का सम्बन्ध है, इसलिये यह नाम पड़ा। यह द्रष्टव्य है।

महत्त्व—ख्यापक नाम— यह पद्धति तीर्थ-स्थानों के लिए विशेषकर प्रवर्तित होती है। तीर्थनामों के निर्वचनों में पुराणों में ऐसी बातें कही गई हैं, जो पूर्वोक्त पद्धति की स्पष्ट ज्ञापिका है। यथा — अविमुक्त तीर्थनाम इस पद्धति का प्रमुख उदाहरण है। मत्स्य० में इस नाम के विषय में कहा गया है : "विमुक्तं ना मया यस्माद् मोक्ष्यते वा कदाचन्, महत् क्षेत्रमिदं तस्माद् अविमुक्तमिदं स्मृतम्" (१८०।४५)।

व्यक्ति नामानुसार स्थान नाम— तपस्वी, योगी या अवतार आदि के नाम के अनुसार भी तीर्थ स्थानों का नामकरण पुराणों में बहुधा मिलता है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि इन स्थानों का नाम पहले अन्य कुछ अवश्य था, पर बाद में तपस्वी आदि के नाम के अनुसार ही हो गया। यथा — सांख्याचार्य जैगीषव्य वाराणसी की किसी गुहा में रहकर सिद्ध हुए थे। उस गुहा का नाम भी 'जैगीषव्य गुहा' पड़ गया था (लिंग० १।९२।३५)।

उसी प्रकार नकुलीश्वर का आधार होने के कारण एक तीर्थ का नाम नकुलीश्वर तीर्थ पड़ गया (कूर्म० २।४४।१२)। यह पद्धति नन्दितीर्थ के नाम के विषय में भी घटती है (कूर्म० २।४१।९०)।

तपस्या के कारण नाम पड़ने का सुन्दर उदाहरण श्रीपर्वत भी है। अग्नि० में कहा गया है कि श्रीरूपिणी गौरी ने यहाँ तप किया था, अतः इसका नाम श्रीपर्वत पड़ गया (११३।४)। उसी प्रकार भृगु ने जिस पर्वतशृंग पर तप किया, उसका नाम भृगुशृंग पड़ गया

(लिंग० १।२४।४९—५०)। लिंग० में यह भी कहा गया है कि महादेव का शिखंडी अवतार शिखण्डिवन में होगा (लिंग० १।२४।८८)। यहां ऐसा समझना ही समीचीन होगा कि शिखण्डी का निवास स्थान होने के कारण ही उस वन का नाम शिखण्डिनी नाम ही प्रचलित था, अत: इस रूप में ही लिखना पड़ा। यह सिद्धान्त हिमालयस्थ अट्टहासगिरी के नामकरण में भी प्रयुक्त होगा (लिंग० १।२४।९६)।

यह नियम आश्रमों में भी प्रयोज्य है, जैसे शिलाद ने जहाँ तप किया उसका नाम शिलादाश्रम हो गया (लिंग० १।४३।८)। इत्यादि।

नामकरण के विषय में कभी-कभी विचित्र बातें पुराणों में मिलती हैं। 'कर्मनाशा नदी' इसका एक उदाहरण है। राजा त्रिशंकु के पाप से सम्बन्धित एक कथा इस नाम के साथ युक्त है (वायु० ८८।११३) जिसके तात्पर्य पर विद्वानों को ध्यान देना चाहिए।

नामकरण—विचार में भ्रान्ति— पौराणिक स्थान-नामकरण में विचार करने के लिए कभी-कभी सूक्ष्म दृष्टि भी आवश्यक होती है। इस देश का नाम 'भारत' कैसे हुआ, इस विषय में पुराणकारों का एकस्वर से कहना है कि 'स्वायंभुववंशीय भरत नामक नृप के नाम अनुसार भारत नाम पड़ा है।' पर शकुन्तला के पुत्र का नाम भी भरत था, अत: नामसाम्य से यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न हो गई थी कि इस भरत के नाम से ही 'भारत' नाम पड़ा है। पुराणों के कुछ ऐसे वचन भी मिलते हैं, आपातदृष्टि से जिनका अर्थ ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन्तला-पुत्र भरत के नाम से ही 'भारत' नाम पड़ा है, यथा— "शकुन्तलायां भरतो यस्या नाम्ना तु भारतम्" (अग्नि० ९९।१३४)या "शकुन्तलायां तु बली (भरत:) यस्य नाम्ना तु भारता:" (अग्नि २७७।७)। पुराणों के वचनों में विरोध न हो, इसलिए यह मानना पड़ता है कि इन श्लोकों में भारता:— पद 'जना:' का विशेषण है और 'भारतम्' 'कुलम्' का विशेषण है। इस विषय में महाभारत का श्लोक भी आलोच्य है (आदि० ७४।३१)। इस एक उदाहरण से ही यह सिद्ध होता है कि स्थाननामकरण सम्बन्धी पुराणमतों के तात्पर्य-ज्ञान के लिये सम्बन्धित सभी पुराणांशों का ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा भ्रम की उत्पत्ति हो ही सकती है।

पौराणिक नामकरण और तद्धितवृत्तियाँ— पूर्वोक्त उदाहरणों से एक और बात भी निकलती है। वह है — लुप्त तद्धित वृत्तियों का ज्ञान। कालिन्दी (यमुना) के विषय में एक पुराण कहता है—"कालिन्दी च नदी जज्ञे कलिन्दान्तरवाहिनी"। इससे 'अन्तरवहन' रूप वृत्ति में तद्धितप्रत्यय की संभावना ज्ञात होती है। 'प्रभव' अर्थ में जिस प्रकार 'हैमवती' (गंगा) शब्द सिद्ध होगा, तथैव कालिन्दी शब्द 'अन्तरवहन' वृत्ति में तद्धित-प्रत्यय से सिद्ध होगा।

द्वितीय उदाहरण— नैमिषेय (ऋषिगण) शब्द की व्याख्या में कहा गया है— "नैमिष ईजिरे यत्र नैमिषेयास्तत: स्मृता:" (वायु० २।१३)। इससे 'तत्र यजते' रूप एक नई तद्धितवृत्ति का ज्ञान होता है। यों इन नई वृत्तियों का अन्तर्भाव पाणिनिव्याकरणगत किसी सामान्य वृत्ति में कोई कर सकता है, पर तब भी यह मानना ही होगा कि पुराण के अध्ययन से अनेक अज्ञात विशेष वृत्तियों का ज्ञान होता है।

A School with a Difference

D.A.V. PUBLIC SCHOOL HAMIRPUR (H.P)

'An Institution for Academic Axcellence'

- 1^{St} in State (Medical Compition) HP-PMT - 2007
- 1^{St} in State (Engineering Compitition) AIEEE - 2007
- 1^{St} in State (Engineering Compitition) AIEEE - 2006
- 1^{St} in State NTSE - 2007 (National Scholarship) 2 students out of total 5 from this school.
- 1^{St} in North Zone IIT (All India 17^{th} Rank) 3 students selected in IIT - 2009.
- 2 students selected in IIT-2010.
- Having three state-of-art fully air conditioned computer labs.

श्री सिद्ध बाबा बालक नाथ मन्दिर न्यास दियोटसिद्ध, जिला हमीरपुर (हि. प्र.) न्यास स्थापना 16/01/1987

२४वीं जयन्ती के शुभ अवसर पर बाबा जी की सुख समृद्धि का आशीर्वाद सदैव बना रहे, बाबा जी से यही प्रार्थना है। भारतीय संस्कृति की विराट पृष्ठभूमि में विद्यमान दिव्य स्थलों में से उत्तरी भारत का प्रसिद्ध पीठ श्री सिद्ध बाबा बालक नाथ के परमधाम शिवालिक पर्वत पर स्थित है। यह दिव्य स्थल हि.प्र. के जिला हमीरपुर के दियोटसिद्ध नामक सुरमई पहाड़ी पर प्रतष्ठित है। यह दिव्य स्थल चारों ओर से सड़कों से जुड़ा है। श्री सिद्ध बाबा बालक नाथ द्वारा दियोटसिद्ध में अपना दिव्य स्थान स्थापित करने से पूर्व शाहतलाई को अपना कर्म स्थल बनाया था, शाहतलाई की दूरी इस पावन स्थल से ५ कि.मी. है।

हिमाचल प्रदेश हिन्दू सार्वजनिक धार्मिक संस्थान और पूर्व विन्यास अधिनियम १९८४ के अर्न्तगत दिनांक १६/०१/१९८७ से जब से इस मन्दिर के संचालन को मन्दिर न्यास ने सम्भाला है। तब से लेकर श्रद्धालुओं व दानियों के बाबा जी की पवित्र धरती पर कदम पड़ते ही उनका स्वागत द्वारों से भव्य स्वागत, जगह-जगह पीने के स्वच्छ पानी की व्यवस्थायें, वर्षाशालिकायें, बिना लाभ-हानि की दो कन्टीनें, निःशुल्क चिकित्सा सेवा, शौचालयों व स्नानागारों की व्यवस्था, जानकारी के लिए स्वागतगारों में पूछताछ केन्द्र, खोई वस्तुओं और व्यक्तियों को ढूंढने के लिए पी.ए. सिस्टम की व्यवस्था, क्लाक रूम, दूरभाष की सुविधा और श्रद्धालुओं को किसी प्रकार की असुविधा होने के कारण मन्दिर में सहायता कक्ष केन्द्र भी स्थापित किया गया है। श्रद्धालुओं के लिए मन्दिर परिसर में दर्शनार्थ स्थलों में मुख्यतः गुफा दर्शन बाबा जी का अखण्ड धूना, धार्मिक पुस्तकालय, भृतहरि मन्दिर, राधा-कृष्ण मन्दिर, चरणपादुका व बाबा जी की तलाई दर्शनीय स्थल है।

न्यास स्थापना १६/०१/१९८७ से आज तक विकास की लम्बी यात्रा तय की है जिसमें मुख्यतः स्वागतगद्वारों का निर्माण, बस स्टैड का निर्माण, भव्य सरायों का निर्माण, लंगर भवन, बकरा स्थल, महिलाओं के लिए गुफा दर्शन प्लेटफार्म, शौचालय व स्नानागारों, पुरुष व महिलाओं की आवाजाही के अलग-अलग रास्तों व शिक्षा में जनता की सेवा में स्नात्कोत्तर महाविद्यालय, संस्कृत महाविद्यालय, उच्च विद्यालय, माडल स्कूल के भवनों का निर्माण किया गया है तथा शिक्षा संस्थानों का संचालन किया जा रहा है।

भविष्य के लिये न्यास द्वारा प्रस्तावित योजनाएँ :—

आधुनिक बस स्टैण्ड के द्वितीय चरण के निर्माण व पेयजल आपूर्ति की योजना के विस्तार पर अनुमानित २.०० करोड़ रुपये की राशि व्यय करने का अनुमान है तथा २० निर्माण कार्यो के आरम्भ करने की योजना है। जिसमें यात्रियों को भविष्य में बड़े पैमाने पर ठहरने के लिये मन्दिर परिसर में विभिन्न स्थानों का निर्माण करना, स्नानागार, शौचालय, मन्दिर परिसर के रास्तों में टाईल लगाने का कार्य तथा बस स्टैण्ड दियोटसिद्ध में १६ मीटर मास्क लाईट स्थापित करना इत्यादि कार्यों की योजना चरणबद्ध तरीके से संचालित की जा रही है। इन योजनाओं पर लगभग १.५० करोड़ रुपये की राशि व्यय करने का अनुमान है।

श्रद्धालुओं/दानियों से न्यास प्रशासन का परम निवेदन रहेगा कि मन्दिर के विकासात्मक कार्य, यज्ञ में दान रूपी आहूति डालकर पुण्य के भागी बनें और बाबा जी का आर्शीवाद व वांछित फल पायें। दान की गई राशि की रसीद अवश्य प्राप्त करें और ***आयकर अधिनियम की धारा ८० जी.*** के अर्न्तगत आयकर से छूट का लाभ उठायें।

मन्दिर न्यास दियोटसिद्ध द्वारा शीघ्र ही लोगों द्वारा त्यजित गऊओं की देख-रेख व पालन पोषण के लिए इसी वर्ष से १०० गऊओं को रखने के लिए गौसदन स्थापित कर रहा है। जिसके लिए आपका सहयोग आपेक्षित है।

राजेन्द्र सिंह (भा.प्र.से.)
उपायुक्त हमीरपुर एवम्
आयुक्त बाबा बालक नाथ मन्दिर
न्यास दियोटसिद्ध जिला हमीरपुर।
दूरभाष : ०१९७२-२२४३००

ओ. पी. ठाकुर (हि. प्र. से.),
उपमण्डल अधिकारी ना. बड़सर
एवं अध्यक्ष बाबा बालक नाथ मन्दिर
न्यास दियोटसिद्ध।
दूरभाष : ०१९७२-२८९४५४

सूरज प्रकाश
मन्दिर अधिकारी, बाबा बालक नाथ
मन्दिर न्यास दियोटसिद्ध, जिला हमीरपुर
दूरभाष : ०१९७२-२८६३५४